'प्रकाशवाणी' पुस्तकमाला का पहला फूल ।

हिन्दू-संगठन ।

लेखक—

देवस्वरूप श्री भाई परमानन्द जी

लेखक गीतामृत, आपबीती, वैरागी वीर, भारतमाता का सन्देश, देश-पूजा में आत्म-बलिदान, इत्यादि, इत्यादि ।

विरजानन्द प्रेस, लाहौर में मुद्रित ।

प्रथम संस्करण 2000 | सम्वत् १९८० | मूल्य १ रुपया

प्रकाशक—
'आकाशवाणी' पुस्तकालय कार्यालय,
मोहनलाल रोड, लाहौर।

मंगल-समाचार

पाठक यह जानकर बड़े प्रसन्न होंगे कि आवरण पृष्ठ पर दिया गया श्रीयुत भाई परमानन्द जी का चित्र वर्त्तमान चित्र है, जो विशेष इसी पुस्तक के लिए लिया गया है।

—प्रकाशक

मुद्रक—
लाला जगन्नारायण, विरजानन्द प्रेस,
मोहनलाल रोड, लाहौर।

ॐ

विषय-सूची

—o—

भूल-सुधार

पुस्तक के अति शीघ्र छपने के कारण प्रूफ़शोधने में कुछ भूलें रह गई हैं। पाठकों को चाहिए कि पुस्तक पढ़ने से पहले इन्हें पुस्तक में शोध लें।

पृष्ठ	पंक्ति	भूल	शुद्ध
४	२०	रह	रहीं
५	१०	कारण	कारण से
७	८	बचा	बुरा
७	१९	रहेगी	रहेंगी
७	१७	आदर की	आदरणीय
१०	[illegible]	[illegible]	[illegible] नहीं
११	११	बांधा	बँधा
११	२२	स्मृति	स्मृति
१३	७	आकर्षित	आकर्षित
१५	१	सन	सिन
२४	८	साराहीसारा	सारा ही
२४	२१	मैं	मैं ने
२५	२	को कि	को
२५	१४	पुलट	पलट
२६	२२	मत है	मत है कि
२७	१०	चीटों	चोटों
२७	१२	भाय	भाग्य
२८	१६	।	,
३०	१६	उसकी	उसका
३०	१७	का	को
३१	८	है।	है—
३२	२	मीरधरं भ्रम	'मीरधर' भ्रम
३३	१७	बंध्या	बंध्यो
३४	१२	और	×
३६	७	वह	यह
४१	१६	उस	इस
४२	१७	छपा	छप
४६	७	....गममें	....गर्मे
४७	१४	बसात	बसात
६३	२१	हैजबा	है जबकि
६३	२२	रोत	रोता
६६	७	अँगूठी	अँगूठियां
७३	७	मंत्व्या	मंतव्य
७७	२	सहच	सहज
९९	८	जन्मे	में जन्मे
१०७	१८	वह	वह बल

—o—

हिंदु-संगठन ।

जातीय भाव।

पत्थर के टुकड़े जंगल में पड़े हैं। उनका अस्तित्व अवश्य है, परन्तु हक़ीक़त कोई नहीं। आनेवाले यात्री उन पर पाँव रखते हैं: उन्हें ठोकरें लगाते हैं। वे सरदी, गरमी और आँधी के प्रभाव को सहन करते हैं; किन्तु चुपचाप पड़े रहते हैं। इन्हीं पत्थरों को एक विशेष क्रम से एक स्थान पर रक्खा जाता है, दीवारें बन जाती हैं, महल माड़ियां खड़ी हो जाती हैं। इनसे गाँव और नगर की नींव पड़ जाती है। अब पत्थर की अवस्था कुछ और हो जाती है। अब यह ठोकरें खाने-वाला पत्थर नहीं होता प्रत्युत नगर के मकानों का, बड़े बड़े दुर्गों और दीवारों का हिस्सा बन जाता है। इससे बड़े बड़े काम निकलते हैं। इसकी हक़ीक़त पहले से कहीं बढ़ जाती है। यदि कोई मनुष्य अकेला जंगल में पड़ा हो। उसका अस्तित्व अवश्य है। किसी न किसी प्रकार से वह अपना पेट भर लेता है। परन्तु उसका मूल्य अन्य किसी जंगली पशु से बढ़कर नहीं होता। बहुत से मनुष्य जब एक समाज के रूप में इकट्ठे होते हैं तब वह पशु की सी दशा में नहीं होता है। नगरों के मकानात के पत्थरों की तरह मनुष्य "संघ" में आ जाता है, और उसका पद कहीं से कहीं बढ़ जाता है। इस लिए कहा गया है कि मनुष्य संघ में रहनेवाला पशु है।

अब हम मनुष्य का विचार करते हैं तब उसके साथ ही हमारे मस्तिष्क में समाज की तसवीर आ जाती है। समाज न हुआ तो मनुष्य क्या? मनुष्य के सब कर्त्तव्य और धर्म— झूठ न बोलना चाहिए, किसी से घृणा न करनी चाहिए इत्यादि एक समाज का अस्तित्व मान कर बनाए गए हैं। समाज न हो तो कोई धर्म हो ही नहीं सकता।

मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनसे आगे बढ़कर समाजका प्रारम्भिक रूप परिवार में पाया जाता है। परिवार से आगे बिरादरी दूसरा रूप है। इन दोनों अवस्थाओं में मनुष्यों का एक समाज में बांधनेका साधन खून का सम्बन्ध होता है। व्यक्तिगत या पाश्विक अवस्था से निकल कर मनुष्य का परिवार या बिरादरी की अवस्था में आना साधारण और स्वाभाविक बात है। खून का सम्बन्ध उनको एक दूसरे का सहायक और सुख दुःख में सांझी बना देता है।

इसके मुक़ाबले पर दूसरा मनुष्य वह सामूहिक मनुष्य है जिसके अनुसार सब मनुष्य ही परस्पर भाई समझे जाने चाहियें परन्तु इस पर पहुंचना देवताओं का काम है। और मनुष्य-इस पर तब पहुंचेगा जब मनुष्य की प्रकृति क्रान्ति में से गुज़र कर स्वार्थसे ऊपर देवताओं कीसी प्रकृति बन जायगी। सम्भव है मनुष्य इस पद की ओर जा रहा हो किन्तु अभी तक उसका कोई चिह्न नज़र नहीं आता।

मनुष्य-समाज जिस दर्जे तक इस समय पहुंच चुका है

वह उपरोक्त दोनों के बीच में जातीयता का दर्जा है। इस समय समुन्नत देशों में मनुष्य परिवार और बिरादरी के दर्जे को पीछे छोड़ चुका है और अन्तिम पद की ओर पाँव उठाने का ख़्याल तक नहीं पाया जाता। वर्त्तमान जीवन-संग्राम में जो लोग बिरादरी तक ही पड़े रहेंगे वे उन्नति-पथ पर पद रखने के योग्य नहीं हो सकते। जातीयता के भाव में कई विशेषताएं हैं, जिन के इकट्ठे होने पर वह भाव उत्पन्न होता है।

हम ने बताया कि मनुष्य सामाजिक पशु है। मनुष्य समाज में रहना चाहता है। स्वभावतः यह समाज उन लोगों का होता है जिन के मध्य से वह उत्पन्न हुआ है। इसलिए जातीयता के बनाने में भी जाति का एक होना पहला बड़ा अंग है। इसी प्रकार मनुष्य को बातें करनेवाला पशु कहा गया है। पशुओं में केवल मनुष्य है जो बातें कर सकता है और उन के द्वारा उन्नति करता है। पशु ख़ास आवाज़ों द्वारा अपना मतलब दूसरों तक पहुंचा सकते हैं। परन्तु ये आवाज़ें बहुत परिमित होती हैं। जो मनुष्य अभी तक जंगली अवस्था में हैं वे भी उसी तरह की ख़ास आवाज़ें रखते हैं जिन से वे भाषा का काम लेते हैं। उन की आवश्यकताएं खाने पीने और शिकार के अतिरिक्त कुछ नहीं होतीं। उन के विचार भी परिमित होते हैं। उन्हें बहुत शब्दों की आवश्यकता ही नहीं होती। जब मनुष्य सामाजिक अवस्था

में आकर उन्नति करना आरम्भ करता है तब उस का आवश्यक परिणाम भाषा की उत्पत्ति होता है। ज्यों ज्यों समाज आगे बढ़ता है भाषा उन्नत होती जाती है। भाषा जातीयता का बड़ा अंग है। मनुष्य बचपन में जो भाषा बोलना सीखता है उस से आश्चर्यजनक और स्वभाविक प्रेम हो जाता है। जितने विचार एक समाज के मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं वे भाषा के कोष में बंद होते हैं। उन विचारों से ही उस भाषा का साहित्य बनता है। उस समाज में जितने अच्छे या बड़े कारनामे होते हैं वे सब भाषा के पट्ट पर अङ्कित हो जाते हैं। भाषा जातीयता का इतना आवश्यक अंग है कि भाषा के बदलने से जातीयता का भाव बिल्कुल मिट जाता है। इसलिए किसी काल—प्राचीन या अप्राचीन में जब एक जाति ने किसी अन्य जाति की जातीयता को नष्ट करने का प्रयत्न किया है, तब उसका यही विचार रहा है कि किसी तरह उनकी भाषा को मिटाकर उसके स्थान में अपनी भाषा को जारी कर दें, ताकि जातीयता के मिट जाने से उनका आत्माभिमान बिल्कुल गुम हो जाए और वे आसानी से जज़्ब किए जा सकें। पुराने रोमवासियों ने ऐसा किया। अरबियों ने भी ऐसा किया। वर्त्तमान योरपीय जातियां अंगरेज़ आदि भी यही कर रहे हैं।

मनुष्य की पहली अवस्था स्थान की दृष्टि से नियत नहीं होती। मनुष्यों के गुरोह एक जगह से दूसरी जगह फिरते

रहे हैं ताकि नई भूमि से वे अपने लिए और अपने पशुओं के लिए ताज़े भोज्य-पदार्थ प्राप्त कर सकें। यह खानाबदोशी की अवस्था होती है। परन्तु एक समय आता है जब कि वे किसी एक स्थान में आबाद हो जाते हैं। अपनी रक्षा के लिए मकानात बनाते हैं। नई सन्तान के लिए वह ज़मीन मातृ-भूमि बन जाती है। जिस भूमि में, जिस बन या पर्वत के निकट हमारा जन्म होता है और बाद में बचपन गुज़रता है, उस से हम कैसा प्रेम करने लग जाते हैं। वे गलियां जिन में हम खेलते थे, वे खेत जिन में हम फिरा करते थे कभी हमारे हृदयसे दूर नहीं होते। वे स्थान हमारे लिए इस कारण भी पूज्य बन जाते हैं कि वहां पर हमारे पुर्खे रहते चले आए हैं। देश-प्रेम का भाव स्वाभाविक है। और उस का ज़ोर हमें उस समय मालूम होता है जब कुछ समय के लिए हमें जबरन बाहर रहना पड़े। कालेपानी की कोठड़ियों में पड़े हुए क़ैदी जब आह भरते हैं तब मुख से यही आवाज़ निकालते हैं—"परमेश्वर, एक बार देशके शुभ दर्शन करा दो!" मातृ-भूमि-प्रेम जातीयता का तीसरा बड़ा अंग है। अर्थात् देश-प्रेम भी जातीयता के उच्च भाव का एक अंग है। धर्म भी जातीयता का एक दूसरा अंग है, यद्यपि वह उस से सर्वथा भिन्न है। ईसाई जातियों का धर्म एक है किन्तु जातीयता एक की दूसरे से भिन्न है। इस्लाम में जातीयता तो है ही नहीं, धर्म ही सब कुछ है। धर्म और जातीयता एक तरह

से दो उलट बातें हैं। अमरीका, जापान, इंगलैएड आदि जिन देशों में देश प्रेम का भाव जितना प्रबल है वहां धर्म भाव उतना ही निर्बल है। जहां पर धर्म भाव प्रबल होता है वहां मत भेद पर इतना ज़ोर दिया जाता है कि देशप्रेम सर्वथा नष्ट हो जाता है।

धर्म के नाम पर ईसाई देशों में पारस्परिक और बाह्य इतने युद्ध हुए हैं : ख़ून की नदियां इतनी बह चुकी हैं कि उन का वृत्तान्त पढ़ने से हृदय कम्पायमान हो जाता है। इस्लाम ने भी धर्म के नाम पर क्या कुछ नहीं किया। धर्म के दबाव ने बुद्धि और मत की स्वतन्त्रता सर्वथा नष्ट कर दी है। इसी बात पर ईसाइयों ने कितने ही विद्वानों और वैज्ञानिकों का वध किया और ज़िन्दों को अग्नि-भेंट किया। गेलेलियो और हाईपेशिया के उदाहरण कौन नहीं जानता? कूपरनेकस ने तीस वर्ष पर्य्यन्त चर्च के भय से अपने विचारों को छिपाए रक्खा। स्पेन के राजा फ़िलप ने राजसिंहासन पर बैठने का उत्सव मनाया। उस का अन्तिम दृश्य कई स्वतन्त्र विचार रखनेवाले मनुष्यों को ज़िन्दा जलाना था। उन में एक धनी नवयुवक था। फ़िलप उस तमाशे को देख रहा था। युवक ने राजा से पूछा—"तुम क्योंकर यह सहन कर सकते हो जो तुम्हारे सामने ही मुझे जलाने के लिए ले जाया जा रहा है?" फ़िलप ने उत्तर दिया—यदि मेरा अपना पुत्र तुम्हारे जैसा मत रखता तो स्वयं अपने

हाथ में मैं उसे आग में झोंकता ! धर्म किस नींव पर खड़ा है? धर्म कुछ सिद्धान्त बनाता है और सिखाता है कि यही सिद्धान्त सच्चे हैं, उन के विरुद्ध सब ग़लत हैं। दूसरी बात यह कि उन पर ईमान लाना ही मनुष्य को बचा सकता है।

इन दो बातों को लेकर चलने से संसार में विचार की स्वतन्त्रता की समाप्ति हो जाती है। धीमान् मनुष्य क्योंकर अकारण यह मान सकता है कि एक ख़ुदा है जो वह विशेष गुण रखता है जिस से वह भिन्न भिन्न साधनों द्वारा अपना हुक्म जारी करता है। सेमेटिक धर्म* कहते हैं—अच्छी बात, तुम्हारी समझ में ये बातें नहीं आतीं, लेकिन ये बातें खुदा के हुक्म के मुताबिक़ हैं; केवल तुम्हारी बुद्धि उसके विपरीत है। ग़लत मत रखने के कारण तुम्हारा जीवन पापमय रहेगा। इसलिए बेहतर यह है कि जितनी जल्दी हो सके तुम्हारा जीवन समाप्त कर दिया जाए।

तर्क तो सब ठीक है। परन्तु दुनिया में या सच्चाई रहेगी या विचार-स्वातन्त्र्य ! क्योंकि सच्चाई अधिक आदरणीय है इसलिए स्वतन्त्रता को जवाब देना चाहिए ! धर्म कुछ एक सिद्धान्त बना लेता है अर्थात् तंगदिली और पक्षपात की जड़ क़ायम कर देता है। ये सिद्धान्त ही यदि ग़लत हों ! हिन्दू शास्त्र किसी मनघड़त सिद्धान्त पर नहीं

* यहूदी, मुसलमान और ईसाई।

चलते। वे ब्रह्माण्ड को अपने सामने देखते हैं। ब्रह्माण्ड के अस्तित्व के रहस्य को हल करने के प्रयत्न में वे ब्रह्माण्ड की चालक शक्ति ब्रह्म पर पहुंचते हैं। वे आगे यहां तक बता देते हैं कि उसका जानना हमारी शक्ति से बाहर है। कोई कह नहीं सकता कि मैं उसे जानता हूँ। वह झूठ बोलता है जो यह कहता है कि मैं उसे जानता हूँ। केवल गीता है जो विचार-स्वातन्त्र्य का आदर करती है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

गीता, ११।४

अर्थात् सब मार्ग मेरी ओर आते हैं। जो जिस मार्ग से आता है वह उसी मार्गसे मुझे पा लेता है। गीता के रचयिता के सामने सिद्धान्त थे। लोकके लिए एक दो सिद्धान्त आवश्यक बताकर वह विचार-स्वातन्त्र्य का अन्त कर सकता था। परन्तु उस ने विचार-स्वातन्त्र्य को अच्छा समझा। मनुष्य का हित भी इसी में था

'हिन्दू' का आरम्भ।

१६०१ में कांग्रेस के अवसर पर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक लाहौर पधारे। उस समय वे देश के विद्वानों और देशभक्तों के शिरोमणि समझे जाने लगे थे। उन्होंने सनातनधर्म सभा में पहली बार इस विषय पर व्याख्यान दिया कि हिन्दू कौन है ? अपने विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान में उन्होंने कहा कि हिन्दू वह है जो वेद को स्वतः प्रमाण मानता हो। यह प्रश्न वहां पर समाप्त नहीं हुआ; लोगों के सामने बार बार आता रहा और इस पर चर्चा होती रही।

भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से इस प्रश्न के भिन्न भिन्न उत्तर दिए जाते रहे। लोकमान्य के उत्तर में यह दोष था कि उस के अनुसार जैन या सिक्खों की गिनती हिन्दुओं में न हो सकती थी। यह भी कहा गया कि जो लोग अपने मृतकों को जलाते हैं वे हिन्दू हैं। परन्तु हिन्दुओं में संन्यासी आदि का दाह नहीं किया जाता। "हिन्दू" की एक परिभाषा यह भी घड़ी गई कि जो गौ और ब्राह्मण की रक्षा करता है वह हिंदू है। भारत का आर्थिक लाभ गौ और बैल पर अवलम्बित है। हिन्दुओं की एक कथा के अनुसार सारी धरती बैल के सिर पर स्थिर है। और ब्राह्मण हिन्दू जाति की प्राचीन सभ्यता के प्रतिनिधि समझे जाते हैं। ब्राह्मण और वेद परस्पर एक दूसरे पर आश्रित हैं। परन्तु सम्भव है हिन्दुओं में से

कई ऐसे मनुष्य निकल आएं जो इसे स्वीकार न करें। हिन्दू सभा ने एक नई परिभाषा निकाली है कि जो मनुष्य किसी ऐसे धर्म को मानता हो जिस की जन्म-भूमि भारतवर्ष हो वह हिन्दू है। यह परिभाषा बहुत भद्दी और अस्वाभाविक-सी मालूम होती है। इस का तात्पर्य एक दो विशेष धर्मों को इलहदा करना है। हाल ही में अंगरेज़ी में एक पुस्तक "हिन्दुइज़म" (हिन्दुत्व) पर प्रकाशित हुई है। उस में तर्क और इतिहास से सिद्ध किया गया है कि हिन्दू वह है जो भारत को अपनी पुण्य भूमि और मातृभूमि समझता हो।

यह अन्तिम परिभाषा ही राष्ट्र की राजनैतिक और वास्तविक परिभाषा है। जो इस देश में जन्म लेकर भी अपनी मातृ-भूमि को पवित्र न समझे वह मनुष्य केवल वही है जिस के सिर पर किसी विदेशी धर्म का जादू चढ़ा है, और वह कभी अपने आपको हिन्दू नहीं कहलाएगा। इसलिए हमारी सम्मति में तो हिन्दू की परिभाषा बहुत सरल कर देनी चाहिए। अर्थात् हिन्दू वह है जो अपने आप को हिन्दू कहे और समझता हो। हम में बहुत से सज्जनों का ख़याल है कि हिन्दू का अर्थ चोर, दास और काफ़र आदि हैं; हम अपने आप को कभी हिन्दू कहलाना पसन्द न करेंगे। यह माना कि जिन विदेशी आक्रमणकारियों ने हम को विजित किया उन्होंने हमें ग़ुलाम और काफ़र के नाम दिए। परन्तु क्या यह ज़रूरी बात है कि इस कथन के अनुसार

हम भी अपने आपको वैसा ही घृणायोग्य समझने लगें। यदि हिन्दू का अर्थ काफ़र या चोर है तो इस लिए नहीं कि हिन्दू शब्द में कोई दोष था प्रत्युत इस लिये कि जो इस नाम को रखते थे वे गिर कर गुलाम बन गए। चाहे उन्होंने शत्रुओं का मुक़ाबला किया, चाहे वे विजयी हुए या उन्होंने दूसरों की अधीनता स्वीकार की, वे हमारे पुर्खे थे, हम उन की सन्तान होने से इन्कार नहीं कर सकते, न हम हिन्दू शब्द को परे फेंक सकते हैं।

हिन्दू हमारे लिए केवल एक नाम ही नहीं है। इस के साथ तो आरम्भ से लेकर हमारी जाति का इतिहास बंधा है। इस के साथ हमारे सब विचार, आदर्श, सफलता और असफलता ऐसे बंधे हैं कि इस की एक परिभाषा करना कठिन है। इस नाम की कथा बतानेवाले हमारे कवि और अवतार हुए। इस के लिये शास्त्रों और दर्शनों के रचयिता हुए। इस की मान-रक्षा के लिए हमारे वीर और क्षत्रिय युद्ध करते रहे. इस के लिए उन्होंने अपने प्राणों को वार दिया।

स्वामी हरिप्रसाद का मत है कि वैदिक काल के आरम्भ में आर्य लोग सिन्धु नदी के आरपार देश में रहा करते थे। गन्धार और बैलस्थान (वर्त्तमान कन्धार और बलोचिस्तान) सिन्धु के प्रदेश विशेष माने जाते थे। प्रसिद्ध देवासुर-संग्राम जिसका वर्णन पुरुच्छेप ऋषि ने ऋग्वेद में किया है इस बैल-

स्थान में हुआ। असुर लोग पराजित हो गए। सुरात (वर्त्तमान हरात) होते हुए इरण (वर्त्तमान ईरान) में राज-व्यवस्था की स्थापना करके वे पश्चिम की ओर बढ़ने लगे। देव घरेलू झगड़ों से निवृत्त हो कर सिन्धु के दक्षिण में राज-व्यवस्था के लिए प्रयत्न करने लगे।

उस समय सात नदियोंवाला देश—सप्तसिन्धु—उन के रहने का स्थान था। वे इस स्थान से दूध पिलानेवाली माता के समान प्रेम करने लगे। "हे सिन्धु! जैसे दूध पिलानेवाली शब्द करती हुई नई ब्याही गौएं दौड़ती बच्चे के सामने आती हैं, वैसे पानी से भरी दोनों ओर की माता रूपी सात नदियें तेरे सामने आती हैं।" उपरोक्त स्वामीजी यह भी बताते हैं कि व्याकरण के अनुसार सिन्धु शब्द से तद्राज नामक प्रत्यय लगने से उसका अर्थ सिन्धु देश का राजा होता है, यद्यपि फ़ारसी भाषा में सिन्धु का अर्थ सिन्ध में रहनेवाले के हैं। एक मन्त्र में कहा है—"मैं कक्षीवान् 'सिन्धु' देश में अधीश्वर होकर भावयव्य के पुत्र स्वनय के उत्तम स्तोत्रों को अपनी बुद्धि से बनाता हूँ......।" ऐतरेय ब्राह्मण में कथा है—विश्वामित्र ऋषि के एक सौ एक पुत्र थे। उन में पचास मधुच्छन्दा से बड़े और पचास छोटे थे। विश्वामित्र ने आज्ञा-भंग के कारण बड़े पुत्रों से अपना पिता-पुत्र-सम्बन्ध सर्वदा के लिए तोड़ लिया। वे सब दस्युओं में जा मिले। मधुच्छन्दा ऋषि का पुत्र जेता

भी उनके साथ हो लिया। परन्तु आर्यों से बाहर दस्युओं में रहना उसे पसन्द न आया। वापस आए हुए श्वेत्र ने इन्द्र देवता के सामने यह बात कही—मैं दस्यु नहीं हूँ, सिन्धु हूँ।

तवाहं शूर ! रातिभिः प्रत्यायं सिन्धुमावदन् ।
उपातिष्ठन्त गिर्वणो विदुष्टे तस्यकारव ॥

ऋग्० १। ११। ६

अर्थात् हे शूर इन्द्र ! मैं आप के दानों से आकर्षित होकर, अपने आपको सिन्धु कहता हुआ वापस आता हूँ। हे गिर्वण ! मेरी तरह अन्य कारू भी उपस्थित हों और आपके उन दानों को जानें।

सभ्यता के इतिहास को तीन कालों में बाँटा गया है-- नदी-काल, सागर-काल और समुद्र-काल। मनुष्य के आरम्भिक काल में सभ्यता के क्षेत्र में जिन जातियों ने उन्नति की वे सब नदियों के तटों पर रहा करती थीं। उस काल में गंगा, नील, दजला, फ़रात और एमेज़ान आदि नदियें आबाद जातियें गिनी जाती थीं। उस के बाद दूसरा काल आया जब कि सागरों के गिर्द रहनेवाली जातियों फ़ीनीशियन, यूनानी, इटालियन आदि ने उन्नति की। वर्त्तमान काल समुद्र के किनारे रहनेवाली जातियों का है। इस काल का आरम्भ स्पेन के आविष्कारों से होता है, बाद में जिन्हें डच और अंगरेज़ों ने संभाल लिया।

प्राचीन आर्यों को नदियों से विशेष प्रेम था। नदियां ही उन को अपने कल्याण और राष्ट्र के चिह्न दिखाई देते थे। अपने आरम्भ के साथियों से पृथक् होकर आर्य लोग सिन्धु के किनारे आबाद हुए। उस के किनारे वे सदियों तक मंत्रों का गायन करते रहे और यज्ञों में आहुतियां देते रहे। इन नदियों से ही उन्होंने अपना नाम विशेष लिया : अपने आप को वे सप्तसिन्धु कहने लगे। हिन्दू अब तक गंगा, गोदावरी, सरस्वती आदि नामों को प्रतिदिन प्रातः स्मरण करते हैं।

फ़ारसी भाषा में 'स' प्रायः 'ह' से बदल जाता है। इसी कारण ज़न्दावस्था में, फ़ारसी भाषा में जिसका पद वेद का सा है, सप्तसिन्धु के स्थान पर 'हप्तहिन्दु' आया है। भविष्य-पुराण में कहा है कि म्लेच्छ भाषाएं संस्कृत की ही भिन्न शाखाएं हैं। वहां पर भिन्न भिन्न शब्दों के दृष्टान्त भी दिए गए हैं--पुत्र और पिदर, भ्राता और बरादर, सप्तसिन्धु और हप्तहिन्दु। इसी प्रकार प्राकृत भाषाओं में भी 'स' 'ह' से बदल जाता है। एक विद्वान् का मत है--"सम्भवतः यहां के असली रहनेवाले नदी को हिन्दु कहते हों और आर्यों ने इसे संस्कृत बनाकर सिन्धु बना लिया हो और देश का 'हिन्दु' नाम आर्यों से भी पहले का चला आता हो।" करनल टाड ने पर्शियानिया शब्द के अर्थ निकालते हुए

लिखा है कि तातारी भाषा में 'इसन' शब्द नदी के लिए आता है। और चीनी भाषा में भी 'टीसिन' नदी को कहते हैं। 'अबा' का अर्थ पिता है। टाड इस से एबेसीनिया का अर्थ 'नदी का पिता' निकालता है। 'नदि का पिता' का इशारा नील नदी की ओर है। अर्थात् 'एबेसीनिया' शब्द नील नदि से निकलता है।

पञ्चनद (पञ्जाब) को आबाद करते हुए आर्य लोग आगे बढ़े। भागीरथ राजा ने गंगा का तट आ आबाद किया। समस्त देश का नाम राजा भरत के नाम पर 'भारतवर्ष' रख दिया गया। इसी प्रकार भिन्न भिन्न राजधानियोंकी नींव डाल कर उन्होंने उन के भिन्न भिन्न नाम रख लिए—काशी, विदेह, कुरु, मगध आदि। इस जाति के लिए सब से बड़ा जातीय दिवस वह था जिस दिन श्री रामचन्द्र का घोड़ा समस्त देश में फिर आया और सुगरीव, भभीक्षण आदि राजाओं ने उन की अधीनता स्वीकार की। उस समय समस्त देश एक हो गया।

हिमालय और विन्ध्याचल के बीच का प्रदेश आर्यवर्त कहलाता था। जब दक्षिण साथ मिल गया तब देश के दोनों प्रदेशों का एक नाम भरतखंड मशहूर हुआ। इस की सीमाएं इधर हिमालय और उधर समुद्र थीं। विष्णुपुराण में लिखा है—"जिस के दक्षिण में समुद्र है और हिमाद्री जिसका उत्तर है वह भारत है और उसके रहने-

वाले भारती हैं।" सिन्धु नदी के किनारे का प्रदेश सिन्धुरहा "महाभारत के युद्ध में सिन्धु सुवीर का राजा बहुत बड़ा माना गया है। सिन्धु का अर्थ समुद्र का भी है। इस प्रकार सिन्धु-स्थान वह देश कहा जा सकता है जो नदी और समुद्र के बीच में स्थित हो। ईरानी, यहूदी, इटाली और यूनान आदि विदेश इस पुराने नाम सिन्धु या हिन्दू को ही पकड़े रहे। यूनानियों ने देश को 'इन्दो' नाम दिया जिससे योरुप के अन्दर 'इण्डिया' प्रसिद्ध हुआ।

नाम की आवश्यकता इसी लिये होती है कि दूसरे लोगों से किसी तरह भेद किया जाए। और ठीक नाम वही है, जिस से दूसरे हम को बुलाना पसन्द करें। इस लिए यह नाम केवल भौगोलिक ही नहीं प्रत्युत जातीय और राष्ट्रीय है। सिन्धुस्थान राष्ट्रों में सब से उत्तम हुआ, इसके लिए मनुस्मृति में यह श्लोक आया है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्व मानवाः।

मनुस्मृति, २। २०

हिन्दू-पुनरुद्धार (१)

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वान्तसांग चिरकाल तक भारतवर्ष में फिरता रहा। वापस लौटकर उस ने अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा। पुस्तक की भूमिका में "हिन्दू" शब्द पर उसने अपने विचार प्रकट किए हैं। वह लिखता है—'इस देश को शुन्तु कहते हैं। वास्तव में यह शब्द 'इन्तु' है, चीनी भाषा में जिसका अर्थ चन्द्र है। इसका अर्थ वह इस प्रकार करता है। अँधेरी रात में यद्यपि आकाश में हज़ारों लाखों सितारे होते हैं, किन्तु फिर भी अँधेरा ही रहता है, और किसी को कुछ दिखाई नहीं पड़ता। जब चाँद एक साथ निकलता है तब ऊपर नीचे सब ओर उजाला हो जाता है। इसी प्रकार जब समस्त संसार अँधेरी रात में पड़ा था, किसी को कुछ दिखाई न देता था, इस देश में चाँद निकला जिससे संसार भर में प्रकाश फैल गया। इसी कारण इस देश को इन्तु कहा गया है। बौद्धकाल में यह देश इधर सीरिया तक उधर जापान तक समस्त संसार के लिए प्रकाश का केन्द्र बन गया। यहां के ऋषि, विद्वान् और प्रचारक विदेशों में गए। लाखों यात्री इस देश में आए। भारत के अन्दर आनेवाले और इससे बाहर जानेवाले सब इसी नाम का प्रसार करते थे। हिन्दुस्थान देवताओं की भूमि थी, और हिन्दू नाम जगत्प्रसिद्ध हो गया।

मनुष्य-स्वभाव में बड़े भाव दो हैं—एक मनुष्य-प्रेम और दूसरा उससे घृणा। मनुष्यकी आत्मा में देव और पशु दोनों मिले हुए पाए जाते हैं। प्रत्येक देश में कई बार यह आवाज़ सुनाई देती है—'युद्ध को संसार से मिटा देना चाहिए और अहिंसा का राज हो जाना चाहिये। परन्तु इसे कार्य रूप में लाने का कोई उपाय दिखाई नहीं देता। जो लोग ऊपर से अमन-व-अमान की बहुत बातें करते हैं, उनके अन्दर दूसरों के वध और लूटमार की सबसे अधिक इच्छा होती है। मनुष्य से उसके पाशविक भाव को निकाल देना एक असम्भव सी बात हो गई है।

एक ज़माने में भारतवर्ष ने अपनी सारी शक्ति को इसी बात में लगा दिया कि किसी प्रकार यह संसार अहिंसा और शान्ति का स्थान बन जाए। वह प्रयोग एक महाप्रयोग था। बौद्ध इस बात के लिए प्रयत्न कर रहे थे कि किसी पक्की नींव पर अपने विशाल धर्म को स्थापित किया जाय। उनके अन्दर न किसी देश विशेष की चाह थी, न दूसरों को गुलाम बनाने की इच्छा थी और न धन-प्राप्ति का कुत्सित भाव था। मनुष्य पशु-भाव पर विजय न प्राप्त कर सका, उलटा पशु-भाव ने उसे दबा लिया। बौद्ध न केवल इस प्रयोग में असफल हुए, प्रत्युत संसार की दृष्टि में उन्हों ने अपने आपको गिरा दिया। बुद्ध ने प्रचार शुरू किया और कपिलवस्तु का सारा वीर युवक-मण्डल क्षात्र धर्म को तिलाञ्जलि देकर उस के भिक्षु-संघ में भरती

हो गया। कपिलवस्तु के पास ही शत्रु था। उसने चढ़ाई की। कपिलवस्तु शत्रु के हाथ में जा पड़ा। यह समाचार गौतम को मिला। उसने इसकी ओर ध्यान भी न किया, जैसे यह कुछ बात ही न थी। शताब्दियां बीत गईं, समस्त देश ही कपिलवस्तु की तरह बुद्ध का चेला बन गया। तब भारत पर तातारी आक्रमणकारियों—रीची और हूणों के आक्रमण आरम्भ हुए। जो सामने आया उन्हों ने उसे मिट्टी में मिला दिया। वे जिधर जाते थे आग बरसाते थे। इन जांगलिकों के सामने बौद्धों की अहिंसा और भ्रातृ-भाव का कोई अर्थ न रहा। इस आग और फ़ौलाद के लिए बौद्ध धर्म के पास कोई उत्तर न था। उनकी तलवार के मुक़ाबले पर इन की माला बेकार थी। विजय के पश्चात् इन आक्रमणकारियों ने कई स्थलों पर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इस से भारतवासियों की मुक़ाबला करने की शक्ति क्षीण हो गई और आक्रमणकारियों पर विजय पाने का ख़्याल ही इन के अन्दर से जाता रहा। क्योंकि नियम यह है कि जब कोई आक्रमणकारी धर्म, भाषा, पहनावा आदि की दृष्टि से पराजित जाति में मिल जाता है, तब पराजित जाति के अन्दर से उठने की शक्ति कम हो जाती है।

देश की रक्षा में बौद्ध धर्म बिलकुल असफल हुआ इसलिए देश दोबारा वैदिक धर्म की ओर झुका। पर्वतों पर ब्राह्मणों ने यज्ञों की पवित्र अग्नि जलाना आरम्भ कर दिया।

भगवती को प्रसन्न करना शुरू किया । राजपूताना के वनों में से नए क्षत्रिय उत्पन्न हुए । विक्रमादित्य और ललितादित्य इसी हिन्दू-पुनरुद्धार का फल थे । वैदिक धर्म के समाज का ढांचा वर्णाश्रम के साथ जुड़ा हुआ है । वर्णाश्रम ही इस जाति के सार्वजनिक जीवन की बुनियाद है । वैदिक धर्म के दो बड़े भाग हैं । पहले व्यक्ति के साधारण धर्म हैं जिनका वर्णन मनु के दस लक्षणों में पाया जाता है । धर्म को यहां तक जानने से उसका पूर्ण ज्ञान नहीं होता । दूसरा वर्ण तथा आश्रमों के धर्म हैं, जो साधारण धर्मों से कहीं अधिक आवश्यक हैं । इन के बिना हमारा सामाजिक जीवन कुछ अर्थ ही नहीं रखता । बौद्धों ने वर्णाश्रम को हटाकर केवल व्यक्ति के धर्मों पर ज़ोर दिया । इसी कारण जाति में से जातीय और राष्ट्रीय धर्म बिलकुल ही जाते रहे । इतना स्मरण रखना चाहिए कि वर्णाश्रम का बँटवारा भिन्न भिन्न कर्मों के कारण था, न कि ज़ात-पात की तरह जन्म के कारण । वैदिक धर्म को वापस लाने का मतलब वर्णाश्रम को नए सिरे से स्थापित करना था । विदेशी आक्रमणकारियों को हार पर हार दी गई और राजा लोग अब बड़े अभिमान से अपने नाम के साथ "वर्णाश्रमव्यवस्थापन प्रवृत्तचक्रः" (मधुवन ताम्रपट) और "वर्णव्यवस्थापनपरः" (सोनपत ताम्रलेख) लिखने लगे । यहां तक कि यह श्लोक बनाया गया—

चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानं यस्मिन्देशे न विद्यते ।
तं म्लेच्छदेशं जानीयात् आर्यावर्तस्ततः परम् ॥

अर्थात् 'जिस देश में चारों वर्ण नहीं पाए जाते उसे म्लेच्छ देश समझना चाहिए'। इसी काल में महानदी "सिन्धु" उत्तरीय सीमा कही गई । भविष्यपुराण में लिखा है—

एतस्मिन्नंतरे तत्र शालिवाहनभूपतिः ।
विक्रमादित्यपौत्रश्च पितृराज्यं प्रपेदिरे ॥
जित्वाशकान् दुराधर्षान् चीनतैत्तिरिदेशजान ।
बाल्हिकान् कामरूपांश्च रोमजान् खुरजान शठान् ॥
तेषां कोशान् गृहित्वाच दंडयोग्यानकारयत् ।
स्थापिता तेन मर्यादा म्लेच्छार्याणां पृथक् पृथक् ॥
सिंधुस्थानमिति ज्ञेयं राष्ट्रमार्यस्यचोत्तमम् ।
म्लेच्छस्थानं परं सिन्धोः कृतं तेन महात्मना ॥

भविष्यपुराण, प्रतिसर्ग पर्व, अ० २

अर्थात् 'विक्रमादित्य के पौत्र शालिवाहन ने बाह्य आक्रमणकारियों को पराजित करके सिंधु नदी के पार भगा दिया और तत्पश्चात् घोषित किया कि अब से देश की सीमा सिन्धु नदी हो गई है, और इस नदी से परे म्लेच्छ देश है।' बौद्धों के उत्थान और पतन के काल में प्राकृत भाषाएं उन्नति करने लगीं । संस्कृत साधारण बोलचाल

से हटकर केवल शिक्षितों के मुख पर चली गई। जन-साधारण अपने विचार प्राकृत भाषाओं द्वारा प्रकट करने लगे। इन भाषाओं में 'स' 'ह' से बदलता गया। उस काल में हिन्दी सब से उच्च पद रखती थी। इसी भाषा में यात्री और साधु-जन हरिद्वार और रामेश्वर में बातचीत करते थे। इसी भाषा द्वारा कबीर, नानक, चैतन्य और रामदास ने देश देशान्तर में पर्य्यटन किया। स्वभावतः इसका नाम भी हिन्दुस्थानी हो गया।

हिन्दू राज्य, वर्णाश्रम और हिन्दी भाषा इस पुनरुद्धार की विशेषताएं थीं। बौद्ध धर्म के अहिंसा-वाद ने लोगोंको व्यक्तिवादी और निर्बल बना दिया और जातीयता की दृष्टि से बिखेर दिया। बौद्ध धर्म प्रत्येक मनुष्य के लिए यही बात आवश्यक बतलाता था कि वह अपने सब धर्मों को छोड़ भिक्षु बनकर अपने निर्वाण के लिए प्रयत्न करे। इसी निर्वाण के विचार ने प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वार्थ में लगा दिया। वर्णाश्रम-धर्म उसके विरुद्ध यह सिखाता था कि वह अपने आपको अपनी जाति के लिए कुर्बान कर दे। इसका तात्पर्य समाज की सेवा थी अर्थात् जो मनुष्य जिस बात के योग्य है उसे उसके द्वारा दूसरोंके लिए जीवन व्यतीत करना चाहिए।

ह्वान्तसांग के बाद अगली शताब्दी में इत्सिङ्ग नामक एक अन्य चीनी यात्री भारत में आया। उसने भी वापस आकर अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा। ह्वान्तसाङ्ग ने जहां पर "हिन्दू"

शब्द की बड़ी महिमा कही है वहां इत्सिङ्ग उससे सहमत नहीं। उसके मत से यह ज्ञात होता है कि भारतवासी अभी तक अपने आपको हिन्दू नहीं कहते थे, यद्यपि विदेशी उन्हें इसी नाम से बुलाते थे। इस यात्री ने भारतको "आर्यदेश" कहना अधिक पसन्द किया है। वह लिखता है—अपने कर्मों की सूचना अपने गुरुको देना एक रीति है जो आर्यदेश में सिखाई जाती है। आर्य का अर्थ "श्रेष्ठ" है, अर्थात् आर्यदेश का अर्थ श्रेष्ठ देश है। यह नाम पश्चिम के लिए है। इसका कारण यह है कि वहां पर श्रेष्ठ आचार और उत्तम व्यवहारके मनुष्य जन्म लेते रहे हैं। इसे 'मध्यदेश' भी कहा जाता है, क्योंकि यह सब स्थानों का केन्द्र है। यही नाम प्रचलित है। भारतवासी प्रायः इसी नामके जानकार हैं। उनका वास्तविक नाम 'आर्यदेश' ही है।

कवि कहते हैं कि 'इन्दु' का अर्थ चन्द्र है और चीनी भाषा का शब्द 'इन्तु' भी इसी से निकला है। यद्यपि यह नाम ठीक है परन्तु प्रचलित नहीं था। हमें स्मरण रखना चाहिए कि देश के पांचों भागों को मिलाकर एक नाम ब्रह्मराष्ट्र' अर्थात् 'ब्रह्मण का राज्य' भी है।

इत्सिङ्ग के दो तीन सौ वर्ष बाद भारत पर मुसलमानी आक्रमण आरम्भ हुए। जेनेवा का एक अमीर—एलबेरूनी शाही बन्दी की हैसीयत में महमूद ग़ज़नवी के साथ रहा करता था। महमूद के साथ वह भारत में भी आया। अपनी वापसी पर

अरबी भाषा में उसने "भारतवर्ष" एक पुस्तक लिखी जिसमें तत्कालीन भारत का एक अत्युत्तम चित्र है। उस काल में अलबेरूनी एक बड़े विद्वान् का पद रखता था। उसमें धार्मिक पक्षपात न था। ज्योतिष तथा विज्ञान का वह पण्डित था। उसने हिन्दुओं की सब विद्याओं की, विशेष कर ज्योतिष की, बहुत खोज की और पतञ्जली, गीता आदि का विशेष पठन किया। अलबेरूनी ने अपनी पुस्तक में योगशास्त्र और गीता को लगभग सारा ही सारा उद्धृत कर दिया है। उसका और उसकी पुस्तक का उल्लेख करने से हमारा मतलब यह है कि अलबेरूनी ने अपनी पुस्तक के प्रत्येक अध्याय के प्रत्येक पृष्ठ के प्रत्येक परिच्छेद में भारतवर्ष का उल्लेख किया है। प्रत्येक स्थान पर वह हमारे लिए "हिन्दु" शब्द का प्रयोग करता है और वह बड़े आदर तथा सन्मान के साथ। पुस्तक के पढ़ने से यह ख़्याल तक नहीं होता कि उस समय यह शब्द घृणास्पद हो गया था। पुस्तक की भूमिका में पुस्तक लिखनेका कारण बताते हुए अलबेरूनी लिखता है— साधारणतया लोग दूसरे धर्म का सच्चा विवरण नहीं लिखते। मेरा स्वामी चाहता था कि हिन्दुओं के विषय में कोई पक्षपातरहित विवरण लिखा जाए। मैंने हिन्दुओं पर, जो हमारे विधर्मी हैं कोई भूठा दोष आरोपित करने का विचार तक नहीं किया है, और न मैं किसी पुस्तक का पूरा पता और हवाला देने से दिल चुराया है ......। मेरी पुस्तक सच्ची घट-

नामों के वास्तव निरूपण के सिवाय और कुछ नहीं है। मैं अपने विचारों को कि वैसा ही पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न करूंगा। और उनके साथ यूनानी विचार भी पेश करूंगा ताकि दोनों का पारस्परिक गहरा सम्बन्ध भी हमें मालूम हो जाय। मैं ने इस से पहले दो पुस्तकों का उलथा अरबी में किया है, पहला सांख्य शास्त्र का जिसमें इस सृष्टि और सब वस्तुओं के आरम्भ का उल्लेख है, दूसरा पतञ्जली का जिस में यह बताया है कि आत्मा किस प्रकार शरीर की ज़ंजीरों से मुक्त हो सकती है। इन दोनों में हिन्दुओं के बड़े बड़े सिद्धान्तों का विवरण है और उन सब कारणों की भली प्रकार से व्याख्या की है जो हिन्दुओं और मुसलमानों को पृथक् करते हैं। पहली तो भाषा है। संस्कृत भाषा बड़ी विस्तृत और कठिन है। पुस्तकों की नक़ल करनेवाले ऐसी बेपरवाही से लिखते हैं और उन्हें ऐसा उलट पुलट कर देते हैं कि उसका रचयिता भी अपने लिखे को पहिचान नहीं सकता। दूसरे उनका धर्म हम से सर्वथा भिन्न है। यदि उन में परस्पर मतभेद है और वे परस्पर वादविवाद करते हैं तो यह सब कुछ शब्दों तक ही रहता है। उनका पक्षपात केवल उन लोगों के विरुद्ध है जो विदेशी हैं और जिन्हें वे म्लेच्छ कहते हैं। वे उनके साथ किसी प्रकार का व्यवहार-न उठने बैठने का, न खाने पीने का, न बातचीत का नहीं करना चाहते। वे प्रत्येक वस्तु को जो किसी अन्य के जल

या अग्नि से छू जाती है अपवित्र समझते हैं। वे किसी अशुद्ध वस्तु को शुद्ध करना नहीं चाहते और न वे किसी विजातीय या विदेशी को अपने में मिलाना चाहते हैं चाहे वह उन में सम्मिलित होने की इच्छा करता हो। इसलिए उन के साथ सम्बन्ध पैदा करना कठिन है। तीसरे उनके रस्म-व-रिवाज हम से इतने भिन्न हैं कि वे हमें शैतान की सन्तान समझते हैं। "यह केवल हिन्दुओं का ही दोष नहीं, सब जातियां दूसरों को ऐसा ही समझती हैं ....।" चौथे पहले पहल इराक़, मोसिल, खुरासान, ईरान और सीरिया तक सब बौद्ध थे। आज़रबायज़ान से वहां अग्निपूजा फैली और गुस्ताशिप बादशाह ने सब बौद्धों को निकाल दिया। तत्पश्चात् इस्लाम आया। उस ने विधर्मियों पर आक्रमण किए। ये सब लोग भागे हुए हिन्दुस्थान में आए और देश को हमारे विरुद्ध बहका दिया। महमूद के सर्वनाश से वे सब हमारे शत्रु बन गए हैं। पाँचवां हिन्दुओं में जाति-अभिमान बहुत है। वे अपनी विद्याओं, नरेशों और जाति के तुल्य संसार में किसी अन्य जाति को नहीं समझते। यहां तक कि यदि उन्हें कहा जावे कि खुरासान या ईरान में एक विद्वान् है तो वे झट कह देंगे 'तुम झूठ कहते हो'। दूसरे अध्याय में एलबेरूनी हिन्दुओं का ईश्वर-विषयक विचार बताता है। वह लिखता है कि वे उसे एक अनादि, अनन्त सर्वशक्तिमान्, सृष्टि का कर्त्ता, धरता आदि समझते हैं। उनका मत है

परमात्मा न किसी वस्तु के समान है, न कोई वस्तु उस के समान है। इसके लिए उस ने पतञ्जली से हवाले दिए हैं।

हिन्दू-पुनरुद्धार (२)

लोहार की दूकान में निहाई भूमि में गड़ी है। हथोड़े पर हथोड़ा उस पर गिरता है। निहाई की अवस्था कैसी शोचनीय है! चोट पर चोट उस पर पड़ती है, और वह चुपचाप धैर्य और सब्र के साथ सब कुछ सह जाती है। दर्शक उसे देखकर घबरा उठता है। विचारने पर मालूम होगा कि यद्यपि निहाई को इतना कष्ट होता है तो भी इन चोटों में ही कई हथोड़े टूट जाते हैं और निहाई वैसी की वैसी रहती है।

कई जातियों का भाग्य भी निहाई के भाग्य-समान है। उन पर आघात पर आघात पड़ता है। आघात करनेवाले नष्ट हो जाते हैं। परन्तु जाति वैसी ही चली आती है। हिन्दु-पुनरुद्धार के पश्चात् भारतवर्ष में भी कुछ शताब्दियों तक शान्ति का राज रहा। इतने में संसार में इस्लाम की शक्ति प्रकट हुई। यह शक्ति एक आँधी की तरह अरब से

उठी और अन्य देशों में फैलने लगी। पहली शताब्दी अभी समाप्त होनेवाली थी कि इस्लाम की पताका पैलसटाईन सीरिया, मिस्र, उत्तरी आफ्रिका और स्पेन में ग्रेनाडा तक फहराने लगी। इधर ईरान का प्राचीन साम्राज्य इस्लाम के एक ही प्रहार से उस के पाँव तले कुचला गया। भाप की तरह धर्म के अन्दर भी एक शक्ति होती है। लूटमार की इच्छा में सम्भवतः उस से भी बढ़कर शक्ति हो। जब धर्म और लूटमार के भाव एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं तब उस से ऐसा इंजन बनता है कि संसार उसका मुक़ाबला नहीं कर सकता। इसी इंजन में ईश्वर और शैतान की सम्मिलित शक्ति काम करती है। इन्हीं दो शक्तियों से बना हुआ इंजन था जिस ने एक ओर आफ्रिका तथा योरप और दूसरी ओर एशिया को हिलाना चाहा।

जब इस्लाम ने हिन्दुस्थान पर हमला किया तब भारतीयों के लिए जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। और तो एक बार आए और चले गए। महमूद ग़ज़नवी के आक्रमणों के साथ ईरानी, पठानी, बलोची, तातारी और मुग़ल—संसार ही भारत पर टूट पड़ा। इस्लामी तलवार के घाव यद्यपि देश की छाती पर गहरे थे तो भी वे इस के प्राण न हर सके।

इस आँदोलन की वेदी पर राजा दहर, राजपाल, पृथ्वीराज और सांगा बलि चढ़े। इस आँदोलन के काल में गुरु नानक, गोस्वामी तुलसीदास, तुकाराम और रामदास हिन्दू

धर्म के बचाव के स्वप्न देखते थे तथा राणा प्रताप, शिवाजी और वीर वैरागी हिन्दू राज्य के लिए क्षेत्र में निकले। बाजीराव, छत्रसाल और रणजीतसिंह के सामने यही एक उद्देश्य था। इस आँदोलन में हिन्दू जाति के सब मान्य नेता अपने आपको "हिन्दू" समझने लगे। शेष सब नाम लुप्त हो गए। इस आँदोलन में ही मलाबार के नायर कश्मीर के ब्राह्मणों के दुःख पर रोते थे। हमारे भाट और कवि, हमारे लेखक और महात्मा तथा राजनीतिज्ञ एक रंजको रंज और आनन्द को आनन्द समझते थे। हमारी माताएं रंज के समय रोती थीं और विजय पर गर्व करती थीं। भारतका सच्चा इतिहास वह है जिसमें इसका वर्णन हो। इस आँदोलन में वर्ष और सदियां बीत गईं। अन्तिम युद्ध पानीपत का था, जिसमें पचास हज़ार से ऊपर मराठी सेना मैदान में काम आई। मराठों ने लड़ाई हार दी किन्तु जंग जीत लिया। इसके बाद कोई आक्रमणकारी इधर दिल्ली में प्रवेश न कर सका। महाराणा रणजीतसिंह के सिक्ख थे जो विजय-पताका काबुल नदी से परे ले गए। शत्रु समस्त हिन्दू जाति को हिन्दू होने से घृणा की दृष्टि से देखते थे। इस सर्वव्यापी घृणा ने ही इनको एक जातीयता में संगठित कर दिया। क्योंकि समस्त जाति भी उलटा शत्रु से घृणा करने लगी। साधारणतया घृणा का काम एक को दूसरे से पृथक् करना होता है। परन्तु जब समस्त जातिके अन्दर किसी के विरुद्ध यही

से लड़ रहे थे। नारद प्रसन्न हो रहा था—

जब हिंदुदल जोर हुअ छुट्टि मीरधं[1] भ्रम
असमय अरबस्तान चला करन उद्दसाक्रम[2]

और आगे चलकर

जुरे हिंदु मीरं, बहे खग्गतारं
मुखे मारमारं, कहे सूर सारं

अन्त में

हिंदु म्लेच्छ अघाइ घाइन,
नंचि नारद युद्ध चायन !

हिन्दुओं को कुचलने का भारी प्रयत्न करने पर भी शहाबुद्दीन पराजित हो गया। पज्जूनराय ने एक बार फिर उसे गिरफ़्तार कर लिया। दिल्ली में खुशी के नक्कारे बजने लगे। दिल्लीवासियों ने अपने नरेश का स्वागत किया—

आज भगा चहुआन घर। आज भाग हिंदवान ॥
इन जीवित दिल्लीश्वर। गंज[3] न सक्कै आन ॥

दृढ़ प्रतिज्ञा के बाद उसे रिहा किया गया। फिर भी वह हमले से बाज़ न आया और दिल्ली आ पहुंचा। उस ने अपना दूत भेजा। रावलों और सामंतों को उस के कुवचन से आग लग गई। तिस पर चामुंडराय ने स्मरण कराया

---

१ मुसलमान। २ बड़ा काम।
३ गंजना—आधीन करना, मर्दन करना।

कि क्या यह वही शहाबुद्दीन नहीं जिस ने हमारी चरण-रज चाटी थी और साथ ही यह भी कहा——

निर्लज्ज म्लेच्छ लजै नहीं । हम हिन्दु लजवान्

अन्त में वह दिन आ पहुंचा जब युद्ध की समाप्ति होने-वाली थी । चंदबरदाई दुर्गा के चरणों में प्रार्थना करता है—

दुग्गं हिंदुराजान बंदीन आयं ।
जपै जाप जालंधरं तू सहायं ॥
नमस्ते नमस्ते इ जालंधरानी ।
सुरं आसुरं नागपूजा प्रमानी ॥

युद्ध के अंतकर परिणामों का वर्णन करने के बाद उस षड्यन्त्र का उल्लेख करके, जिस के द्वारा पृथ्वीराज शहाबुद्दीन का वध कर सका, चंदबरदाई मरे हुए हिन्दू अधिपति के लिए प्रार्थना करता है—

धनि हिन्दु प्रथिराज, जिनै रजवट्ट[1] उजारिय ।
धनि हिन्दु प्रथिराज, बोल कलिमझ्झ[2] उजारिय ॥
धनि हिन्दु प्रथिराज, जेन सुविहान[3] इ संध्यो[4] ।
बारबारह साहिमुक्कि[5], अन्त समय सर बंध्यो ॥

---

१ अभिमान । २ कलिकाल में । ३ अच्छा आरम्भ । ४ लक्ष्य करना । ५ पकड़ा ।

'पृथ्वीराज रासो' की रचना उस समय हुई जब इस देश में हिन्दू-राज्य था। दिल्ली विजित हो गई। एक के बाद दूसरा मुसलमान वंश वहां शासन करता रहा। हिन्दी भाषा के लिए जब कोई जगह न रही तब न कोई हिन्दी पुस्तक दिखाई पड़ती और न देश में जातीय जीवन का कोई चिह्न दिखाई देता। साहित्य सदा उस समय फलता फूलता है जब देश में कुछ जीवन हो। मनुष्य में जब जीवन होता है, तब ज्ञान के प्रकाश से उस के मस्तिष्क में नए विचारों का सञ्चार होता है। इन विचारों को प्रकट करने-वाले या कवि होते हैं या ग्रन्थकार।

राजा प्रताप के जीवन की एक घटना है। महाराणा और उस की धर्मपत्नी और बच्चे बन में छिपने के लिए भाग रहे थे। स्थान स्थान पर मुग़ल सिपाही उन का पीछा कर रहे थे। उन्होंने पाँच बार भोजन बनाया। उसे खाने का समय न मिला। शत्रु आगए। हर बार पकाया हुआ भोजन छोड़ना पड़ा। एक अवसर पर रानी ने जंगली नाज की कुछ चपातियां बनाईं। एक एक चपाती सब को दी गई ताकि प्रत्येक आधा उस समय खा ले और शेष आधी दूसरे समय के लिए रख छोड़े। प्रताप भूमि पर लेटा हुआ अपने दुर्भाग्य पर विचार कर रहा था। एक साथ चीख की आवाज़ सुन पड़ी। यह उस की लड़की की चीख थी। एक जंगली बिल्ली आई और उस की आधी चपाती छीन कर ले गई। भूख के

भय से वह चिल्लाने लगी। उस राणा का हृदय जिस ने अपने सम्बन्धियों और मित्रों को रणक्षेत्र में कटते देखा था लड़की की चीख़ से काँप उठा। उसने बादशाही को लअ़नत दी और एक बार अकबर को लिख भेजा कि वह उसकी दशा पर विचार करे। बादशाह की प्रसन्नता की कोई सीमा न थी। शादियाने बजने लगे। अकबर ने गर्व के साथ वह चिट्ठी एक राजपूत सरदार पृथ्वीराज को दिखाई। पृथ्वीराज बीकानेर का छोटा राजकुमार था और दरबार में क़ैद था। वह एक उत्तम कवि और सच्चा देशभक्त था। उस ने सम्राट् से कहा कि वह प्रताप को भली प्रकार जानता है। यह पत्र धोखा है, प्रताप का नहीं। उसने प्रताप से इस बात के पूछने के लिए बादशाह से अनुमति ली कि क्या वह पत्र उसने लिखा है। उसने पद्य में एक पत्र राणा के नाम लिखा जिस का तात्पर्य यह था—"हिन्दू की आशा हिन्दू पर लगी है। किन्तु राणा उन का उत्तर दे रहा है। यदि प्रताप न होता तो अकबर सब को एकसमान कर देता। हमारे राजाओं ने वीरता को और महिलाओं ने मान को तिलाञ्जली देदी है। अकबर हमारी जाति के लिए दलाल उत्पन्न हुआ है, उसने सब को ख़रीद लिया है। अकेला ऊधो का बेटा उस की क़ीमत से ऊपर है। कौन राजपूत नौरोज़ के दिन के लिए अपनी इज़्ज़त बेचेगा? परन्तु कितनों ने इज़्ज़त को बेच दिया है! क्या चित्तौर भी इसी बाज़ार में आएगा जहां सबने क्षत्रिय का सर्वस्व खो दिया

है ? यदि प्रताप ने मित्र खो दिए तो क्या, नाम-धन तो बचा लिया है ! निराशा ने बहुतों को इस बाज़ार में अपना अपमान देखने को भेजा है। केवल हमीर की सन्तान इस कलङ्क से बची है । दुनिया पूछती है, प्रताप की अदृश्य शक्ति कहां है ? उस के आत्मसंमान, साहस और तलवार में ! तलवार की सहायता से उसने क्षत्रिय लाज की रक्षा की है । किसी न किसी दिन इस दलाल का अन्त होगा । वह सदा के लिए नहीं रह सकता। तब समस्त जाति प्रताप के चरणों में शीश निवाएगी ताकि वह हमारी उजड़ी हुई भूमि में रजपूती बीज बो दे। सभी आँखें तुम्हारी ओर लगी हैं । उस की पवित्रता को क़ायम रखना तुम्हारे हाथ में है ।" यह पत्र सम्पूर्ण नहीं मिलता । इस के कुछ दोहे सोरठे जो हमें मिले हैं, हम नीचे देते हैं—

सोरठा*—अकबर समद अथाह सूरापणभरियोसजल[1] ।
मेवाड़ो तिण मांहि पोयण फूल प्रतापसी ॥ १ ॥

अकबर शौर्य के जल से भरे हुए अथाह समुद्र के समान है ।परन्तु मेवाड़ के स्वामी राणा प्रताप उस में केवल फूल के समान हैं ।

---

* इसी पत्र का एक अन्य पाठ भी मिलता है, इस लिए हम नीचे पाठान्तर भी देते हैं ।

१ तिहँ डूबा हिन्दू तुरक ।

अकबर एकण[1] बार दागल की सारी दुनी।
अण दागल असवार रहियो[2] राण प्रतापसी ॥ २ ॥

अकबर ने एक बार ही में सारी दुनिया को कलङ्कित कर दिया। परन्तु असवार राणा प्रताप ही निष्कलङ्क रहे।

अकबर घोर अँधार ऊँघाणां हिंदु अवर।
जागे जगदातार पोहरे राण प्रतापसी ॥ ३ ॥

अकबर रूपी घोर अँधकार में सब हिन्दू सो गए। परन्तु जगत् का दाता राणा प्रताप (धर्म-धन की रक्षा के लिए) पहरे पर खड़ा रहा।

हिंदुपति परताप पति राखो हिंदु आण री।
सहे विपति[3] संताप सत्य शपथ कर[4] आपणी ॥ ४ ॥

हे हिन्दूपति प्रताप! हिन्दुओं की लज्जा रक्खो। अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए सब कष्टों को सहो।

चौथो चीतो डाह बाँटो बाजंती तणो।
दीसै[5] मेवाडाह तो सिर[6] राण प्रतापसी ॥ ५ ॥

हे चितौर के स्वामी राणा प्रतापसिंह, हे मेवाड़पति, बस तुम्हारा ही सिर दीख रहा है।

चम्पो चीतो डाह पौरस तणों प्रतापसी।
सोरभ अकबर शाह अडयल आ भड़िया नहीं ॥ ६ ॥

चितौड़ चम्पा है, प्रताप उस की सुगन्ध हैं। अकबर रूपी

---

१ अकबरिये इक । २ चेटक [राणा प्रताप के घोड़े का नाम]। ३ सहो विपति। ४ करि। ५ माथै। ६ थारै।

भौंरा उस के पास नहीं फटकता । (चम्पा के फूल पर भौंरा नहीं बैठता) ।

पातल खाग[1] प्रमाण साची सांगा हर तणी ।
रही सदा लग राण अकबर सूं ऊंभी अणी ॥ ७ ॥

संग्रामसिंह के पोते प्रतापसिंह की खड्ग ही गिनती में सच्ची है, जो अकबर के सामने अनम्र हो कर उच्च रही ।

दोहा—माई जणा अहडा[2] जण जहडा[3] राण प्रताप ।
अकबर सूतो ओझ के जाण सिराणे साँप ॥ ८ ॥

हे माता ! तू ऐसा पुत्र उत्पन्न कर, जैसा राणा प्रताप है । जिस को अकबर, सिरहाने का साँप समझकर सोता हुआ चौंक उठता है ।

सोरठा—राउ अकबरियाह तेज तिहारो[4] तुरकडा ।
नम नम नीसरियाह राण बिना सह रावजी[5] ॥ ९ ॥

बादशाह अकबर, तेरा तेज देख बड़ा आश्चर्य होता है, जिस के सामने राणा को छोड़ अन्य सब राजा झुक गए ।

सह गावडियें साथ येकणा बाडे बाडियां ।
राणा न मानी नाथ तोडे साँड प्रताप सी ॥ १० ॥

हे अकबर, तूने गाय रूपी सब राजाओं को एक बाड़े में

---

१ पाघ (पगड़ी) । २ एहा (पंजाबी में एहा और अहडा दोनों शब्दों का प्रयोग किया जाता है) । ३ जेहा (एहा और अहडा की तरह ये दोनों शब्द भी पंजाबी में प्रत्युक्त होते हैं) । ४ तुहालो । ५ राजवी ।

इकट्ठा कर लिया, परन्तु साँड रूपी प्रतापसिंह तेरी ना को नहीं मानकर गरज रहा है।

सोयो सो संसार असुरय ढोले ऊपरे।
जागे जगदातार पोहरे राण प्रतापसी॥ ११॥

ऊपर असुरों (मुसलमानों) का ढोल बजते हुए भी संसार सो रहा है। परन्तु जग का दाता राणा प्रतापसिंह है जो पहरे पर खड़ा है।

दोहा—धर बाँकी दिन पाधरा मरद न मूके माण।
घणें नरिन्दां घेरिया रहे गिरिन्दां राण॥ १२॥†

---

†इनके अतिरिक्त 'कविता कौमुदी' में ये तीन पद्य और मिले हैं—

पातल राण प्रवाड़ मल बाँकी घड़ा विभाड़।
खूँदाडे कुण है खुराँ तो ऊभाँ मेवाड़॥१॥

हे विकट सेनाओं के विध्वंस करनेवाले और युद्ध में मल्ल राणा प्रतापसिंह! तेरे खड़े रहते मेवाड़ को घोड़ों के खुरों से खुँदानेवाला कौन है?

पातल जो पतसाह बोलै मुख हूता बयण।
मिहर पछम दिस माँह ऊगै कासप राववत॥२॥

राणा प्रताप यदि बादशाह को बादशाह कहे तो कश्यप जी की सन्तान भगवान् सूर्य पश्चिम में उगे।

पटकूँ मूछाँ पाणकै पटकूँ निज तन करद।
दीजै लिख दीवाण दो इण महली बात इक॥३॥

जिस की भूमि अत्यन्त विकट है, और दिन अनुकूल है। जो वीर अभिमान को नहीं छोड़ाता, वह राणा बहुत राजाओं से घिरा हुआ पहाड़ों में निवास करता है।

राठौर वीर कवि पृथ्वीराज की कविता पढ़कर राणा को इतना साहस हुआ जो मानो लाख सिपाही न पैदा कर सकते थे। वे अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ हुए। पत्र के उत्तर में महाराणा ने निम्नलिखित दोहे भेजे—

तुरक कहासी मुख पतो इग तन सूँ इकलिंग।
ऊगै जांहीं ऊगसी प्राची बीच पतंग॥ १॥

भगवान् एकलिंग की शपथ है, इस शरीर से (प्रताप के मुख से) बादशाह तुरक ही कहलावेगा। और सूर्य का उदय जहां से होता है वहीं पूर्व ही में होगा।

खुसी हूँत पीथल कमध पटको मूछाँ पाण।
पछटण है जेतै पतो कमला सिर केवाण॥ २॥

हे वीर पृथ्वीराज, आप प्रसन्न होकर मूछों पर हाथ फेरिए। जब तक प्रतापसिंह है, तलवार को यवनों के सिर पर ही जानिए।

हे दीवान! मैं अपनी मूछ पर हाथ फेरूँ या अपने शरीर को तलवार से काट डालूँ; इन दोनों में से एक बात लिख दीजिए।

साग मूँड़ सहसी सको सम जस जहर सवाद।
भड़ पीथल जीतो भलाँ बैण तुरक सूँ बाद॥ ३॥

राणा प्रताप सिर पर भाला सहेगा, क्योंकि बराबरवाले का यश विष के समान होता है। हे भट पृथ्वीराज, आप तुरक से बातों के युद्ध में विजय पावें।

औरंगज़ेब ने जब हिन्दुओं पर कर लगाया तब उदयपुर की गद्दी पर श्री राणा राजसिंह थे। उन्होंने बादशाह को एक लम्बा पत्र लिखा जिसे हम नीचे उद्धृत करते हैं—

सर्व प्रकार की स्तुति सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर को ही उचित है और आपकी महिमा भी स्तुति करने योग्य है। आप की उदारता और समदृष्टि चन्द्र और सूर्य की भांति चमकती है। यद्यपि मैं ने आजकल अपने आप को आप के हाथ से अलग कर लिया है, किन्तु आपकी जो सेवा मुझ से हो सके उसको सदा चित्त से करने को मैं उद्यत हूँ। मेरी सदा इच्छा रहती है कि हिन्दुस्थान के बादशाह, रईस, मिर्ज़ा, राजे और राय लोग, ईरान, तूरान, रोम और शाम के सरदार लोग तथा सातों बादशाहत के निवासी और वे सब यात्री जो जल और थल के मार्ग से यात्रा करते हैं, सब मेरी अभेद बुद्धि सेवा से उपकार लाभ करें।

यह इच्छा मेरी ऐसी उत्तम है कि आप उस में कोई दोष नहीं देख सकते। मेरे पूर्वजों ने पूर्वकाल में जो कुछ आपकी सेवा की है, उस पर ध्यान करके मुझ को सर्वथा उचित

जान पड़ता है कि मैं नीचे लिखी हुई बातों पर आपका ध्यान दिलाऊं, जिस में राजा और प्रजा दोनों की भलाई है। मुझ को यह समाचार मिला है कि आप ने मुझ शुभ-चिन्तक के विरुद्ध एक सेना नियत की है। मैं ने यह भी सुना है कि ऐसी सेना के नियत होने से आपका द्रव्य-कोष खाली हो गया है। और उस के पूरा करने को आप ने नाना प्रकार के कर भी लगाए हैं। आपके परदादा मुहम्मद जलालुद्दीन अकबर ने, जिनका सिंहासन अब स्वर्ग में है, इस बड़े राज्य को बावन वर्ष पर्यन्त ऐसी सावधानी और उत्तमता से चलाया कि सब जाति के लोगों ने उस से सुख और आनन्द उठाया। क्या ईसाई, क्या मूसाई, क्या दाऊदी क्या मुसलमान, क्या ब्राह्मण, क्या नास्तिक सब ने एक जैसा राज्य-न्याय और सुख भोगा। यही कारण है कि सब लोगों ने एक मुंह होकर उनको जगत्गुरु की पदवी दी। शहंशाह मुहम्मद नूरुद्दीन जहाँगीर ने भी, जो अब नन्दनवन में विहार करते हैं, उसी प्रकार बाईस वर्ष तक राज किया; अपनी छत्र-छाया में समस्त प्रजा को शांत रक्खा। अपने आश्रित तथा सीमास्थित राजन्य-वर्ग को प्रसन्न रक्खा और अपने बाहु-बल से शत्रुओं का दमन किया, वैसे ही उन के शाहज़ादे और आप के बड़े प्रपितामह शाहजहाँ ने बत्तीस वर्ष राज कर के अपना शुभ नाम सुविख्यात किया। आप के पूर्वजों की यह कीर्ति है। उन के

विचार ऐसे उदार और महान थे कि उन्होंने जहां कहीं अपना पाँव रक्खा वहीं विजय-लक्ष्मी को हाथ जोड़ अपने सामने पाया। उन ने बहुत-से देश और द्रव्य को अपने अधिकार में किया। किन्तु आप के अधिकार से वे देश बाहर होते जाते हैं। अब जो लक्षण दिखलाई पड़ते हैं उनसे निश्चय होता है कि प्रतिदिन राज्य का क्षय ही होगा। आप की प्रजा आप के अत्याचार से पीड़ित है। सब निर्बल होगए हैं, बस्तियां उजड़ रही हैं। नाना प्रकार की करुणाजनक बातें सुनने में आती हैं। राजमहल में दरिद्रता छाई हुई है। जब बादशाह और शाहज़ादे के देश की यह दशा है तब और रईसों की कौन कहे? शौर्य तो केवल मुख पर आरहा है। सब ओर व्यापारी रोते हैं। मुसलमान अव्यवस्थित हो रहे हैं। हिन्दू महादुखी हैं। यहां तक कि प्रजा को सन्ध्या काल का भोजन भी प्राप्त नहीं होता। दिन को सब दुःख के मारे अपना सिर पीटते हैं।

ऐसे बादशाह का राज्य के दिन स्थिर रह सकता है जिस ने भारी कर लगा कर प्रजा की ऐसी दुर्दशा कर डाली है? पूर्व से लेकर पश्चिम तक सब लोग यही कहते हैं कि हिन्दुस्थान का बादशाह हिन्दुओं का ऐसा द्वेषी है कि वह रंक, ब्राह्मण, योगी, वैरागी और संन्यासी पर भी कर लगाता है और अपने उत्तम तैमूरी वंश को इन धनहीन, निरुपद्रवी, उदासीन लोगों को दुःख देकर कलंकित करता है। यदि

आप को उस पुस्तक पर विश्वास है जिस को आप ईश्वर का वाक्य कहते हैं तो उस में देखिए कि ईश्वर को मनुष्य मात्र का स्वामी लिखा है, केवल मुसलमानों का नहीं। उस के सामने हिन्दू और मुसलमान दोनों एकसमान हैं। मनुष्य-मात्रको उसीने जीवनदान किया है। भिन्न भिन्न प्रकार के मनुष्य उसी ने अपनी इच्छा से उत्पन्न किए हैं। अपनी मसजिदों में उसी का नाम लेकर मुल्ला चिल्लाते हैं और हिन्दुओं के यहां देवमन्दिरों में पुजारी उसीके निमित्त घण्टा बजाते हैं। किन्तु सब उस ही को स्मरण करते हैं। इस से किसी जाति को दुःख देना परमेश्वर को अप्रसन्न करना है। हम लोग जब कोई चित्र देखते हैं तब उसके चितेरेको स्मरण करते हैं। यदि हम उस चित्र को बिगाड़ें तो चितेरा अप्रसन्न होगा। और कवि की उक्ति के अनुसार जब कोई फूल सूंघते हैं तब उस के बनानेवाले का ध्यान करते हैं उस को बिगाड़ना उचित नहीं है।

बात यह है कि हिन्दुओं पर आपने जो कर लगाना चाहा है वह न्याय के सर्वथा विरुद्ध है, राज्य-प्रबन्ध को नष्ट करनेवाला है। ऐसा करना भले राजाओं का काम नहीं। ऐसा करने से राजबल में शैथिल्य आता है। यह काम हिन्दुस्थान की नीतिरीति के सर्वथा विरुद्ध है। यदि आप अपने इरादे को न बदलना चाहें तो पहले रामसिंह से, जो हिन्दुओं का मुखिया है, कर वसूल करें और फिर अपने इस

भद्राकांक्षी को बुलाइये। गरीब चींटियों और मक्खियों को सताना किस वीरता का नाम है। बड़े आश्चर्य की बात है कि आपके मन्त्रियों ने इस विषय में आपको कोई उत्तम मन्त्र नहीं दिया।*

हिन्दू जाति की इस मुरदा हालत में सदियां गुज़र जाती हैं। रामानन्द, कबीर, तुलसीदास आदि का हिन्दू-पुनरुद्धार का आंदोलन जाति में नया जीवन उत्पन्न करता है। विधर्मी शासकों के प्रति घृणा भाव प्राचीन धर्म के लिए नए सिरे से प्रेम उत्पन्न करता है। गुरु हरगोविन्द पञ्जाब में और स्वामी रामदास दक्षिण में इस नई स्वतन्त्रता का सन्देश देनेवाले देवदूत हैं। स्वामी रामदास अपनी एक कविता में हिन्दू जाति के उज्ज्वल भविष्य का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

---

* इस पत्र के विषय में कई मत हैं। मिस्टर ओरम का मत है कि यह पत्र जोधपुराधीश जसवन्तसिंह की ओर से औरंगज़ेब को लिखा गया। कर्नल टाड इस परिणाम पर पहुंचा है कि यह पत्र राणा राजसिंहकी ओर से आलमगीर को लिखा गया था। तीसरा मत यह है कि यह पत्र शिवाजी ने फ़ारसी भाषा में औरंगज़ेब को लिखाया। इस में शिवाजी ने राणा रामसिंह को 'हिन्दुपति' बताया और लिखा कि बादशाह पहले राणा पर कर लगाए बाद में शिवाजी पर। अधिक सम्भव यह है कि यह पत्र शिवाजी ने लिखाया हो और बादशाह के सामने राणा राजसिंह को इस पत्र का लिखनेवाला प्रकट किया हो।

स्वप्नीं जें देखिलें रात्रीं, तें तें तसेंचि होत से ।
हिंडतां फिरतां गेलों, आनंदवनभूवनीं ॥१॥
बुडाले सर्वही पापी, हिंदस्थान वळावलें ।
अभक्तांचा क्षयो झाला, आनंदवनभूवनीं ॥२॥
कल्पांत मांडिला मोठा, म्लेच्छ दैत्य बुडावया ।
कैपक्ष घेतला देवीं, आनंदवनभूवनीं ॥३॥
येथून वाढला धर्म, राजधर्मासमागमें ।
संतोष मांडिला मोठा, आनंदवनभूवनीं ॥४॥
बुडाला औरंग्या पापी, म्लेच्छ संहार जाहला ।
मोडिलीं मांडलीं छत्रं, आनंदवनभूवनीं ॥५॥
बोलणे वाउगें होतें, चालतें पाहिजे बरें ।
पुढें घडेल तें खरें, आनंदवनभूवनीं ॥ ॥
उदंड जाहलें पाणी, स्नानसंध्या करावया ।
जपतप अनुष्ठानें, आनंदवनभूवनीं ॥ ७ ॥
स्मरलें लिहिले आहे, बोलता चालता हरी ।
रामकर्ता रामभोक्ता, आनंदवनभूवनीं ॥८॥

अर्थात् गहरे अँधेरे में मैं ने स्वप्न देखा । देखो, स्वप्न भी सच्चे होते हैं ! हिन्दुस्थान जाग उठा है । जो पापी हिन्दुस्थान के प्रति घृणा प्रकट करते थे ; ईश्वर के प्रति पाप करते थे वे नीचे गिर गए हैं । ठीक ही हिन्दुस्थान एक पवित्र और आनन्द प्रदायिनी भूमि है । ईश्वर ने उसका दुःख अपना दुःख समझ लिया और औरंगज़ेब को गिरा दिया ।

भूशायी सिंहासन पर विराजमान हो गए और सिंहासन पर बैठनेवाले भूमि पर गिरा दिए गए। हिन्दुस्थान एक पवित्र और आनन्द-प्रदायिनी भूमि है! अब राजधर्म धर्म की सहायता पर है, बल सत्य का सहायक है, हिन्द की नदियों का जल स्वच्छ होगया है। इसलिए हम इनमें अपनी सब क्रियाएं कर सकते हैं। हो जो हो, अब राम ने इस भूमि को फिर पवित्र और आनन्दभूवनी बना दिया है।' भूषण कवि जाग्रति के इस काल में स्थान स्थान पर फिरकर हिन्दुओं को जगा रहा था। उसने औरंगज़ेब को ललकारा—

लाज धरो शिवजी से लरो सब सैयद सेख पठान पठायके।
भूषन ह्यां गढकोटन हारे जहां तुम क्यों मठ तोरे रिसायके॥
हिंदुन के पति सोन विसात सतावत हिंदु गरीबन पायके।
लीजै कलंक न दिल्ली के बालम आलम आलमगीर कहायके॥

अर्थात् 'हिन्दुओं के पति से तुम्हारी वसात नहीं, और हिन्दुओं को ग़रीब जानकर उन्हें सताते हो! यदि तुम्हारे अन्दर कोई मान है तो सब सैयद, शेख और पठान इकट्ठे कर के शिवाजी से लड़ो। जहां तुम ने गढ़ और कोट हार दिए हैं वहां गुस्से में देवालय और शिवालय तोड़कर क्या यश प्राप्त करना चाहते हो?' एक अन्य स्थल पर भूषण शिवाजी को 'हिंदुपति' कहता है—

"जगत में जीते महावीर महाराजनते

महाराज बावन हूं पातसाहस लेवाने ।
पातशाह बावनौ दिल्ली के पातशाह दिल्लीपति
पातसाह जीसो हिन्दपति सेवाने ।
दाढी के रखैयन की दाढोसी[1] रहति छाति
बाढी जस मर्याद हद हिन्दुवाने की ।
कढि गयि रयतिके मनकी कसक मिट गयी
ठसक तमाम तुर्काने की ।
भूषन भनत दिल्लीपति दिल धकधका सुनिसुनि
धाक सिवराव मरदाने की ।
मोठी भयि चँडी[2] बिन चोटी के चबाय सीस
खोटी भयि संपति चकता[3] के घराने की ।

शिवाजी ने क्या कुछ कर के दिखाया, इस पर भूषण कहता है । इसमें सन्देह नहीं कि वह हिन्दुओं के आन्तरिक भावों को ही प्रकट करता है--

राखी हिन्दुवानी, हिन्दुवानके तिलक राख्यो
स्मृति और पुराण राख्यो, वेद विधी सुनि मैं,
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की

१ जलीसी । २ मृतक खानेवाली । ३ बाबर ।

धरामें धरम राख्यो राख्यो गुण गुणी ने
भूषण सुकवि जीति हद मरहट्टन की,
देस देस कीरति बखानि तव सुनि मैं
साहिके सुपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्लीदल दाबि के दिवाल[1] राखि दुनि मै ॥

भूषण मराठा न था, वह पक्का हिन्दू था। उसने शिवाजी के लिए ही कविता नहीं की प्रत्युत जगत्प्रसिद्ध बुँदेले देशभक्त छत्रसाल को अपनी एक पद्य-रचना में 'ढाल हिन्दवाने की' बताया है। छत्रसाल ने स्वयं एक कविता में कहा है—

हिंदु तुरक दीन द्वै गाये। तिनसों बैर सदा चलि आये ॥
जबते शाह तखत पर बैठे। तबते हिंदुनसों उर ऐठे[2] ॥
सब रजपूत सीर नित नावैं। ऐंड करे नित पैदल धावैं ॥
ऐंड एक शिवराज निबाही। करै आपके चित्तकि चाही ॥

छत्रसाल ने शिवाजी से भेंट की। शिवाजी उसके हिन्दू जोश से अति प्रसन्न हुआ। महाराष्ट्रपति ने कहा—

तुम छत्री सिरताज। जीत अपनी भूमि कौ करौ देश को राज ॥

---

१ देवालय।

२ जल गए।

वापस लौटकर छत्रसाल राजा सुजानसिंह से मिला। वयोवृद्ध राजा उससे बहुत प्रसन्न हुआ। राजा ने छत्रसाल को तलवार भेंट की और कहा–

यह कहि प्रीति हिये उमगाई। दिये दान किरवान बँधाई
दोऊ हाथ माथ पर राखे। पूरन करौ काज अभिलाखे
हिंदु धरम जगजाइ चलावौ। दौरि दिलीदल हलनि हलावे।

पाककवि के 'छत्रप्रकाश' से

पञ्जाब में गुरु हरगोविन्द का पुत्र गुरु तेग़बहादुर हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए बलिवेदी पर चढ़ा। उसके पुत्र दसवें बादशाह गुरु गोविन्दसिंह ने उसकी शहादत के सम्बन्ध में यों कहा –

कीनों बडो कलूमें साका। तिलक जंजू राखा प्रभ तांका

अर्थात् 'कलियुग में बड़ा साका (जौहर) दिखाया। उन के तिलक तथा जनेऊ की रक्षा के लिए प्रभु (आपने) प्राण दे दिए'। जब कश्मीर के ब्राह्मण गुरु तेग़बहादुर के पास आकर बिलखाए तब गुरु ने उन से कहा कि तुम जाओ और बादशाह से कहो कि हमारा एक परिपूत जन है। पहले उसे मुसलमान करो, तत्पश्चात् हम सब आप ही मुसलमान बन जाएंगे—

तुम सुनो दिजेसु ढिग तुर्केसु अवैम इमगावो[1] ।
इक पीर हमारा हिंदु भारा भाईचारा लखपावो ॥
है तेग़बहादुर जगतउजागर ता आगर[2] तुर्क करो ।
तिसपाछे तबही हम फिर सबही बन है तुरक भरो ।

पंथप्रकाश

जब गुरु तेग़बहादुर को मुसलमान होने के लिए कहा गया तब उन ने उत्तर दिया—हमें हिन्दू धर्म अति प्रिय है, उस का नाश कैसे करें—

तिनते सुन श्री तेग़बहादुर । धर्म निवाहन विषे बहादुर ॥
उत्तर भनयो धर्म हम हिंदु । अति प्रियको किम करे निकंदु[3] ॥

सूर्यप्रकाश

गुरु गोविन्द ने स्वयं अपने 'विचित्र नाटक' में कहा है—

सकल जगत में खालसा पंथ गाजे ।
जगे धर्म हिंदु सकल भंड भाजे ।

जब औरंगज़ेब ने राणा जयसिंह को फ़ौज के साथ शिवाजी के विरुद्ध रवाना किया तब शिवाजी ने उस से कहा—"तुम जितने क़िले माँगते हो मैं देने को तैयार हूँ । अपने हाथ से मैं तुम्हारा झण्डा उन पर गाड़ूँगा । परन्तु मुसलमानों की

---

१ ऐसा गावो । २ श्रेष्ठ । ३ नाश ।

विजय किसी तरह भी न होनी चाहिए। मैं हिन्दू हूँ, तुम राजपूत हो। मैं सौ बार उस को सीस निवाऊँगा जो हिन्दू धर्म की रक्षा करता है। किन्तु मुझ से कोई ऐसी बात न होगी जिस से हिन्दू धर्म कलंकित हो। * रायसिंह पर इस बात का बड़ा प्रभाव पड़ा। उस ने उत्तर में कहला भेजा—'मैं बड़ा प्रसन्न हूँ। हम सब हिन्दू हैं। हमारा दिल तुम्हारे साथ है, क्योंकि तुम हिन्दू धर्म को ऊंचा कर रहे हो। परंतु इस समय तुम्हारा लाभ इसी में है कि तुम औरंगजेब से सम्बन्ध करलो।' पंजाब में वैरागी वीर ने वही काम किया, दक्षिण में जिसे शिवाजी ने किया। जिस प्रकार पंजाब में देहाती और शहरी हिन्दू मुसलमानों से पीड़ित हो वैरागी के पास आते और रोते हुए अपनी दुःख की कहानी सुनाते थे, उसी तरह दक्षिण में भी हिन्दू लोग शिकायतें लेकर शिवाजी के पास जाकर कहते थे—'तुम ने हिन्दू धर्म की रक्षा करने के लिए जन्म लिया है। हमें भी तुम इन यवनों से बचाओ'। मराठों और मुसलमानों के युद्धों में यह साधारण बात थी। मुसलमानों की सेना में जो मराठा सरदार होते थे, धर्म के नाम पर उन से प्रार्थना की जाती

---

* तुम्हास जे किल्ले पाहिजेत ते मी देतों. निशान चढवितों, पण मुसलमानांस यश न देणें. मी हिंदू, आपण रजपूत तेव्हां हिंदू च. राज्य मूळचें हिंदूचें. हिंदूधर्मरक्षकापुढें मी डोकें शतदा नमवीन. पण हिंदुधर्माची मानहानी होईल असें कधींही घडणार नाहीं !!

थी। वे अपना अपना पद त्याग कर महाराष्ट्र-सेना में आ मिलते। बाजीराव पेशवा के काल में कई स्वामी और पण्डित "हिन्दू बादशाही" के प्रचारक थे। बाजीराव का भाषण, जो उसने साहुजी के दरबार में किया हमें सदा स्मरण रहेगा। उसने कहा—मुग़ल साम्राज्य का वृक्ष अब सूख गया है। उस की जड़ में केवल कुल्हाड़ा लगाने की आवश्यकता है, बस शाखाएं आप से आप ही गिरकर टूट जायंगी। दिल्ली में हिन्दू राज्य स्थापित करने का, देश को ग़ुलामी से बचाने का यही सुअवसर है।

नादरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण करके उसे विजित कर लिया। बाजीराव के प्रतिनिधि धोंडोगोविन्द ने दिल्ली से अपने स्वामी को पत्र लिखा—नादरशाह कोई देवता नहीं जो सब कुछ नष्ट कर सके। उसे उनके साथ मैत्री करनी होगी, जो मुक़ाबले में ज़बरदस्त होंगे। आप एक ज़बरदस्त सेना लेकर चले आइए। सन्धि के लिए युद्ध करना आवश्यक है। हम सफल हो सकते हैं यदि आप और दूसरे सब हिंदू राज्य इस अवसर पर एक हो जाएं। हम सब हिन्दुओं को बुँदेलों के समेत इकट्ठा होकर मुक़ाबला करना चाहिए। नादरशाह हिन्दू राज्यों को हड़प करना चाहता है। जयसिंह सवाई की इच्छा है कि उदयपुर के राणा दिल्ली के सिंहासन पर बिठाए जाएं। सब हिन्दू राजा आप पर आँखें लगाए

बैठे हैं। ज्योंही आप सेना लेकर रवाना होंगे, सवाईजी स्वयं सेना लेकर दिल्ली पर चढ़ आएंगे।

पानीपत की लड़ाई के पश्चात् नाना फ़रनवीस और महादाजी सिंधिया मराठा साम्राज्य के पोषक और संचालक थे। दोनों से एक भूल हुई, जिस के दूर होने पर मराठा साम्राज्य के शुभचिन्तकों को बड़ी प्रसन्नता हुई। इसी भाव को प्रकट करते हुए गोविन्दराव काले ने नाना फ़रनवीस को यह पत्र लिखा—आप की चिट्ठी पढ़कर मेरा हृदय गद्गद् होगया। अपने विचारों को मैं शब्दों में नहीं भर सकता। कालीकट से लेकर सिन्धु तक समस्त देश हिंदुओं का है न कि तुर्कों का। पाण्डवों से लेकर विक्रमादित्य के समय तक हमारी सीमाएं यही रही हैं। जब हमारे नरेश निकम्मे होगए तब यवनों ने राज्य छीन लिया। मुग़ल दिल्ली के स्वामी बन गए। औरंज़ेब के समय में हम इस शोचनीय दशा को पहुँच गए थे कि प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी को साढ़े तीन रुपया कर देना पड़ता था। तब हमारे त्राता शिवाजी ने जन्म लिया। ...... नानासाहब और भाउसाहब जैसे वीरों ने देश स्वाधीन कर लिया........। अब हम को यह साधारण बात प्रतीत होती है। यदि मुसलमानों को सफलता प्राप्त होती तो इस पर बीसियों पोथे लिखे जाते। उनका यह स्वभाव है, वे बात का बतंगड़ बना देते हैं। अब मुसलमान लोग कहने लग गए हैं कि हिंदुओं ने राज्य अपना कर लिया है। जो

असम्भव बात थी वह पूर्ण हो गई है। राज्य का प्रबन्ध करना और उस से फ़ायदा उठाना हमारा काम है। यदि हम अयोग्य प्रमाणित हुए तो बना बनाया सब काम बिगड़ जायगा। हमारी सफलता केवल देश पर राज्य करने में नहीं है प्रत्युत अपने धर्म को जीवित रखने, वेदशास्त्र तथा गोब्राह्मण की रक्षा करना और अपनी विजय, यश तथा कीर्त्ति के प्रचार में है। यदि आप और पटेलभाउ बिगड़ बैठेंगे तो शत्रु फिर वैसा ही बलवान् हो जायगा। परमात्मा को शतशः धन्यवाद है जो आप की नाराज़गी दूर हो गई। यह शुभ हुआ है। आप के पत्र ने मुझे शान्ति दी है।

हिन्दू-पुनरुद्धार (३)

मैं ने अपने बचपन में ही आर्यसमाज में प्रवेश किया। मेरा जन्म उसी वर्ष हुआ जब कि लाहौर में आर्य-समाज की नींव डाली गई। मैं ने अपने जीवन का बड़ा भाग आर्यसमाज की सेवा में गुज़ारा है। मेरे सामने कई बार यह प्रश्न आया है कि आर्यसमाज क्या है। अभी मुझे इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला। स्थूल रूप में प्रश्न यह है कि क्या आर्य-

समाज कोई नया धर्म [मज़हब] क़ायम करना चाहती है या वह प्राचीन वैदिकधर्म की रक्षा के लिए स्थापित की गई है। प्रश्न को इस रूप में रखने से कोई ऐसा आर्यसमाजी न होगा जो इसका उत्तर न दे सके। हर एक का यही जवाब होगा कि आर्यसमाज किसी नए धर्म की स्थापना नहीं करना चाहती, प्रत्युत इसकी स्थापना इस उद्देश्य से हुई थी कि वह हिंदू जाति के प्राचीन आर्यधर्म की रक्षा करे। यहां तक तो सब ठीक है। किन्तु यदि आर्यसमाज की कार्यप्रणाली पर ध्यान किया जाए तो सब काम उद्देश्यों के प्रतिकूल ही मालूम होते हैं। आर्यसमाजों में कई बार बड़े ज़ोर से कहा जाता है और सब लोग अपने कर्मों से इस बात का प्रमाण देते हैं कि स्वामी दयानन्द के बनाए सिद्धान्तों का मानना आवश्यक है। जब आर्यसमाज के दो दल हुए तब यह समस्या हमारे सामने अपने विकट रूप में उपस्थित हुई थी कि आर्यसमाज को अपने सिद्धान्त स्थिर कर लेने चाहिएं। आर्यसमाज के शास्त्रार्थों—वादविवादों से भी यह बात भली भान्ति मालूम होती है। शान्त चित्त से विचार करने पर यद्यपि हम देखते हैं कि आर्यसमाज कोई नया मत नहीं तो भी हमारे अन्दर से यह बात दूर नहीं होती कि आर्यसमाज एक शुद्ध धार्मिक सम्प्रदाय है। इसलिए स्वभावतः विशेष धार्मिक सिद्धान्तों से ही उसे ऊँचा मानना पड़ता है। धार्मिक सभाओं में सदा नया धर्म बनाने की भयावह प्रवृत्ति

पाई जाती है। ईसाई धर्म के सुधार के लिए अनेक सभाएं बनाई गई। समय बीतने पर उन सभाओं ने नए धार्मिक सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् इस देश में भी सैंकड़ों नए सम्प्रदाय खड़े हो गए, अन्त में जो छोटे छोटे मत बन गए। यद्यपि प्राचीन ऋषियों के व्यक्तिगत विचार भिन्न भिन्न होते थे और वे अपने विशेष मत की शिक्षा भी देते थे, किन्तु उनकी इस शिक्षा से कोई नया धर्म न खड़ा होता था। धर्म स्थापित करने और अपना मत चलाने का रोग उस समय पैदा न हुआ था। आर्यसमाज में जब दलबंदी का भाव ज़ोरों पर था तब उसका एक दल आर्यसामाजिक सिद्धान्तों को आगे रखता था और दूसरा दल यह कहता था कि आर्यसमाज केवल वैदिकधर्म की रक्षा और हिन्दुओं के पुनरुद्धार के लिए स्थापित की गई है। वह समय तो गया : ज़माने ने अपना रुख बदला। इस देश में जातीयता की लहर ज़ोर पकड़ने लगी। आर्यसमाज ने तब यह बात अच्छी तरह से न समझी थी कि उस का ब्रिटिश सरकार से मुक़ाबला होगा। ब्रिटिश सरकार को धार्मिक संस्थाओं से क्या मतलब?

भारतवर्ष में जब दूसरी बार पुनरुद्धार की लहर चल रही थी, उस समय योरप की व्यापारिक जातिएं व्यापार के लिए हिन्दुस्थान में आई। शनैः शनैः व्यापार की मण्डियों में उन्हों ने अपने कारखाने बनाए, बाद में जिनको उन्होंने

क़िले बना लिए। इन क़िलों की सहायता से इन व्यापारियों ने राजनीतिक मामलों में प्रवेश करके अपने अधीन किए हुए प्रदेशों को बढ़ाना आरम्भ किया। अंगरेज़ों की 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' शेष सब जातियों पर ग़ालिब आ गई और उस की शक्ति इतनी बढ़ी कि उस ने हिंदुस्थान का राज प्राप्त करने के लिए हाथ पसारना आरम्भ किया। उस समय भारतवर्ष कई ऐसे छोटे राज्यों में बँटा था, जिन के शासकों को स्वार्थ के सिवाय और कुछ न दिखाई देता था। प्रत्येक रियासत में राजा के मरने पर कई उत्तराधिकारी खड़े हो जाते थे। इन में से हरएक अपना मतलब ही सिद्ध करना अपना बड़ा उद्देश्य समझता था। ये सब इन विदेशियों की सहायता के इच्छुक रहते थे। इन राज्यों की अवस्था जुआरियों की सी थी। जुए में सभी जुआरी ग़रीब हो जाते हैं, केवल जुआ खिलानेवाला ही सब धन बटोरता है। इन पतित राज्यों में शासक अपना वैयक्तिक लाभ देखते थे। यह स्वार्थ-भाव चिरकाल तक नहीं रह सकता। इन के मुक़ाबले पर एक ऐसा संगठन उपस्थित था, जिसका प्रत्येक सदस्य अपने वैयक्तिक लाभ को छोड़कर जातीय लाभ को अपने सामने रखता था। हरएक अपने संगठन की शक्ति को बढ़ाने के प्रयत्न में रहता था। वह संगठन इतना मज़बूत हो गया कि उस ने अंगरेज़ी राज्य का रूप धारण कर लिया, और वे स्वार्थी राजा एक एक करके

नष्ट हो गए। इन देसी ताक़तों में से एक मराठे थे, जो भारत में हिंदू साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। इन में दोष यह था कि मराठा कॉनफ़ेडूसी की भिन्न भिन्न रियासतें भी अपने लाभ को ही अपने सामने रखती थीं। वे सब किसी एक संगठन के अधीन न थीं। पेशवा का शासन उनकी अपनी इच्छा पर अवलम्बित था। अंगरेज़ों के संगठन के मुक़ाबले पर मराठों का संगठन कोई बात न थी ब्रिटिश राज्य स्थापित करने के बाद अंगरेज़ नीतिज्ञों को इस बात की फ़िक हुई कि अपने राज्य को वे चिरस्थायी क्योंकर बना सकते हैं।

उत्तर-पश्चिम के आक्रमणकारियों के हाथ में तलवार थी। उन्होंने तलवार के ज़ोर से देश विजित किया। परन्तु केवल तलवार ही कभी इतने विशाल देश को अपने अधीन नहीं कर सकती। अकबर की धार्मिक पक्षपातरहित नीति ने प्रजा के दिल को जीत लिया और मुग़ल साम्राज्य के स्थायी होने के लक्षण दिखाई पड़ने लगे। अंगरेज़ राजनीतिज्ञ यह भली भांति जानते थे कि किसी देश को वश में रखने के लिए वहां के वासियों के दिल को वश में करना आवश्यक है। इसलिए उन्होंने ईसाई प्रचारकों द्वारा अपने धर्म और स्कूलों द्वारा अपनी भाषा तथा साहित्य का प्रचार करने का निश्चय किया। इस तजवीज़ के चालकों के विरुद्ध एक अन्य दल भी था जो समझता था कि नहीं, देशी भाषा और

विद्याओं को उन्नत करने से ही हमारा राज्य चिरस्थायी होगा। कुछ भी हो, दोनों दलों का उद्देश्य एक ही था— ब्रिटिश राज्य चिरस्थायी कैसे बनाया जाय? एक बड़ा भारी तजरुबा किया गया। इस बड़े विशाल देश और इतनी बड़ी जाति को अपनी भाषा और साहित्य द्वारा जीतने का प्रयत्न किया गया। एक शतक गुज़र जाने पर आज हमें मालूम हुआ है कि अंगरेज़ अपने तजरुबे में सफल हुए हैं। एक विदेशी कम्पनी ने हम को एक तजरुबे का शिकार बनाया। उस तजरुबे की सफलता इस बात से भी प्रकट होता है कि अंगरेज़ी शिक्षा ने हमारे मस्तिष्क पर माया का जाल बिछा दिया है। यह जाल प्रकृति के माया-जाल से कहीं कम नहीं। हमारे देश का शिक्षित मण्डल लोभ में डूबा हुआ इस जाल में फंसा है।

आश्चर्य की बात यह है कि वह आर्यसमाज, जो वैदिक धर्म की रक्षा के लिए निर्माण की गई, इस जाल में ऐसी फंसी कि उस ने अंगरेज़ी स्कूलों और कालेजों द्वारा वेदों की रक्षा करनी चाही। मुझे लोगों की मूर्खता पर शोक होता है। मेरे सामने एक पत्र है। यह हैदराबाद (दक्षिण) से आया है। इस में लिखा है—'यहां हिन्दी-प्रचारिणी सभा की एक बड़ी बैठक होनेवाली है। आप कृपया इसका प्रधान-पद स्वीकार करें'। छपा हुआ प्रार्थना-पत्र अंगरेज़ी में है, साथ का हाथ से लिखा हुआ पत्र अंगरेज़ी में है।

प्रचार हिन्दी का और पत्र अंग्रेजी में । हा, भारती कब और कैसे समझेंगे ?

एक बार तो आर्यसमाज जातीय लहर में बह गई। परन्तु जब ऊपर से दबाव पड़ा तब आर्यसमाजियों ने अनुभव किया कि स्कूल और कालेज बनाकर भी वे घुटनों तक परवशता के कीचड़ में फंसे हैं । उन्होंने झट करवट बदली और धर्म का ढोंग रचकर अपनी कमज़ोरी को छिपाने का प्रयत्न किया । वे कहने लगे— 'हमारा देश से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा काम तो मूर्तिपूजा-खंडन है, सन्ध्या का प्रचार करना है'। स्वामी दयानन्द के आंदोलन से पहले ही बङ्गाल आदि में ब्राह्मसमाज काम करती थी । यह संस्था अंगरेज़ी सभ्यता के प्रचार का परिणाम थी। इसका प्रवर्त्तक राजा राममोहन राय था। यद्यपि यह कहना कठिन है कि उक्त महाशय दिल से हिन्दु सभ्यता का विरोधी था तो भी इतना निश्चित है कि अंगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करने से वह पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंगा गया था । वह पहला भारतीय था, जिसने भारतसरकार से प्रार्थना की कि इस देश में अंगरेज़ी साहित्य को फैलाया जाए, नहीं तो भारतीयों का दिमाग़ उपनिषद् आदि ग्रन्थों की निरर्थक बातों में फंसकर ख़राब हो जायगा (!!)।

ब्राह्मसमाज के कार्यकर्त्ताओं पर अपनी जातीयता का कोई प्रभाव न था । बङ्गाल में सिवाय चैतन्य के धार्मिक

आँदोलन के जातीयता का भाव कहीं प्रकट न हुआ था। राजा राममोहन राय आदि को अपनी जातीयता का भवन खड़ा करने के लिए कोई नींव न दिखाई देती थी। यह महानुभाव भवन को पश्चिमी सभ्यता के (जिस में अंगरेज़ी भाषा और साहित्य का अधिक भाग हो) सहारे पर बनाना चाहता था। उसका विचार था कि हिन्दू धर्म या जाति में कोई ऐसी अच्छी बात ही नहीं, जिस पर किसी मत की स्थापना की जा सके।

स्वामी दयानन्द इस विचार के विरोधी थे। उन की आत्मा अपनी सभ्यता के रंग में रंगी हुई थी। एक राज्य के अन्दर एक ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर उन्हें अंगरेज़ी शिक्षा से कोई प्रेम न था और न उन पर इस का कुछ असर हुआ। आरम्भ से ही हिन्दू विचारों में पालन पोषण होने से उन्होंने इस की बुराइयों को देख लिया। परमात्मा को छोड़ कर उस की जगह मूर्त्तियों की पूजा करना उनको सब से बढ़कर बुराई मालूम होती थी। घरबार छोड़ कर उन्हों ने अपने आप को संस्कृत-व्याकरण और वेदशास्त्र के अध्ययन में लगा दिया। पीछे आर्यसमाज की बुनियाद डाली। आर्यसमाज की तह में नियम यह था कि न केवल हिन्दू धर्म में संसार में क़ायम रहने की पर्याप्त शक्ति है और इसे दूसरे धर्मों से कुछ लेने की आवश्यकता नहीं, प्रत्युत संसार के सब धर्मों की सब सच्चाइयां ही वैदिक धर्म से निकली हैं।

इस लिए हमारा धर्म सब से पहला और ऊँचा है । जर्मनी के प्रसिद्ध लुथर के जीवन में एक घटना हुई । इसने रोमन कैथॉलिक चर्च में क्रान्ति पैदा कर दी । पुरानी बाइबिल की एक प्रति मिलने पर लुथर ने कैथॉलिक चर्च की खराबियों के विरुद्ध आवाज़ उठाई । इससे योरप में सब से पहले स्वतंत्र चर्च की नींव पड़ी । स्वामी दयानन्द ने अपने बचपन में एक शिवरात्री की रातको देखा कि चूहे महादेव की मूर्त्ति को अपवित्र बना रहे हैं । इस घटना ने एक बड़े सुधारक आंदोलन की बुनियाद रक्खी । स्वामी दयानन्द के दिल में पूजाके विरुद्ध लगातार विचार आता रहा—मैंने निश्चय कर लिया कि जब मैं उस महादेव को प्रत्यक्ष देख लूँगा तभी उसकी पूजा करूँगा ।

कुछ वर्ष बीत गए, उनकी बहिन परलोक सिधार गई । "मैंने रोदन नहीं किया । इस पर सब लोग मुझे ढीठ और निर्लज्ज कहने लगे ।" परन्तु थोड़ी देर के बाद उनके चचा रोगग्रस्त हो गए । "लोग उनकी नब्ज़ देखने लगे । मैं उनके निकट बैठा था । मुझे देख कर उनकी आँखों से पटपट आँसू गिरने लगे । मैं भी उस समय बहुत रोया । यहां तक कि मैंने अपनी आँखें सुजा लीं । मैं इतना कभी न रोया था । उस समय मुझे ऐसा मालूम हुआ कि चचा की तरह मैं भी मर जाऊँगा ।" यह क्यों ? मनुष्य को चोट तब ही लगती हैजब वह अपनी आत्मा दूसरे में देखता है । वह उस समय रोत

है जब वह दूसरे से बहुत प्यार करता है । इसका परिणाम क्या हुआ ? स्वामी दयानन्द अपने मित्रों तथा पण्डितों से अमर होने का साधन पूछने लगे । उन्हों ने बताया कि इसका एकमात्र साधन योगाभ्यास है । "तब मैंने निश्चय किया कि घर छोड़ कर भाग जाऊँ ।"

स्वामी दयानन्द के जीवन में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएं पहले हो चुकी हैं । अब तीसरी घटना आती है । इस से उनकी दृढ़ता प्रकट होती है । साधारणतया हम यह समझते हैं कि महापुरुष आकाश से उतरते हैं । यह गलत है । संसार में हज़ारों लाखों नहीं प्रत्युत प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में किसी न किसी समय कोई निश्चय करता है । परन्तु सांसारिक शक्तिएं उस के रास्ते में खड़ी हो जाती हैं । वे उसे जीत लेती हैं । भेड़ की नाईं वह भी अपना सिर नीचे कर लेता है और संसार के गुलामी के रास्ते पर चल पड़ता है । अभी थोड़े ही वर्ष हुए कालेजों के विद्यार्थियों ने सरकारी शिक्षा को अपने अनुकूल न समझकर उसका विरोध प्रकट करते हुए कालेज छोड़ दिए थे । दुनिया के गुलाम, उनके अध्यापक और मुख्याध्यापक उनको बहकाने के लिए खड़े होकर यह बताने लगे कि महात्मा गाँधी उन्हें यों ही बहकाकर उन के जीवन को खराब करना चाहता है । बात वही थी । सैमेटिक धर्मों के मत के अनुसार शैतान सांसारिक मनुष्यों को बताता है कि ईश्वरीय मार्ग पर न जाना, नहीं तो अपने

जीवन के आनन्द को नष्ट कर लोगे।

बहुत-से विद्यार्थी तो फ़ौरन वापस चले गए। उनका निश्चय कुछ दिन तक ही रहा। शेष जो रहे, वे एक वर्ष बाद, दो वर्ष बाद फिर दुनिया के शैतान के पंजे में जा फंसे। दुनिया बड़ी ज़बरदस्त है। जब कोई नवयुवक उस के विरुद्ध चलने का निश्चय करता है तब माता पिता, गुरु, अध्यापक, मित्र, गाँव के रहनेवाले और सम्बन्धी सब पीछे पड़ जाते हैं—यह क्या करते हो? यह भूलकर न करना। तुम्हारा क्या बनेगा? तुम क्या करोगे? ये शैतानी प्रश्न हैं, जो चित्त को विचलित कर देते हैं। इन से निश्चय की शक्ति नष्ट हो जाती है।

मैं उन कुछ विद्यार्थियों को रेत के ढेर में स्वर्ण-कण समझता हूँ, जिन्हों ने एक बार निश्चय करके फिर उसे बदलने का विचार तक न किया। मरदों की तरह उन्हों ने सब प्रलोभनों को लात मार दी। मेरा दिल चाहता है कि उन में से कुछ के नाम लिख दूँ। परन्तु ऐसा न करना ही बिहतर है।

स्वामी दयानन्द के माता पिता को उनके निश्चय का ज्ञान हो गया। उन्होंने दयानन्द के विवाह की तैयारी आरम्भ कर दी। "मैं ने दृढ़ निश्चय किया कि विवाह कदापि नहीं करूँगा।.......एक दिन हाथ में धोती लेकर शौच के बहाने घर से निकल पड़ा, और एक सिपाही की ज़बानी घर कहला

भेजा कि मैं एक मित्र के घर जा रहा हूँ।" स्वामी जी ने इस बार और अन्य कई अवसरों पर अपने उत्तम उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए ऐसी बातें कही हैं, जो सत्य न थीं। परन्तु उनकी इच्छा किसी को दुःख देना न था, इस लिए हम उन को झूठ भी नहीं कह सकते। घर से निकलने के बाद कुछ दिन तक स्वामी जी योग के लिए फिरते रहे। उन की उँगलियों में सोने की अँगूठी देखकर एक वैरागी ने कहा—'सोने की अँगूठी पहिनकर वैराग्य की सिद्धि कैसे होगी?' उसने उनसे तीनों अँगूठियां मूर्त्ति को भेंट कराई। इसी प्रकार कोटकांगड़ा में कुछ वैरागी उन पर हंसने लगे कि रेशमी किनारेवाली धोती पहिरी है। उन्होंने वह धोती परे फेंक दी, और तब से अपना नाम ब्रह्मचारी रख लिया।

सिद्धपुर के मेले पर स्वामी जी किसी योगी की खोज में फिर रहे थे कि उनका पिता चार सिपाही लेकर आ पहुंचा और इन्हें पकड़ लिया। स्वामी जी ने पितृ-चरण पकड़ लिए और क्षमा माँगकर उनके साथ हो लिए। अब भी वे यही चाहते थे कि किसी तरह पिता के हाथ से निकल जाऊँ। सिपाही रात को पहरा देते थे। स्वामी तीन रात जागते रहे। चौथी रात जब सिपाही को सोया पाया ये हाथ में लोटा लेकर वहां से भाग निकले। "यह इसलिए ताकि यदि वे देख लें तो कह दूँ कि शौच को जा रहा हूँ।" एक बाग़ में वृक्ष पर चढ़कर बैठ गए। दिनभर भूखे रहे।

रात को सात बजे उतर कर अपना रास्ता लिया।

बड़ोदा में पहुंच कर दयानन्द योगानन्द और कृष्णशास्त्री से पढ़ते रहे। अब उनका पढ़ने का शौक पहले से बढ़ गया। अभी २४ वर्ष की ही आयु थी कि एक संन्यासी ने उन्हें यह बताया कि संन्यासी बन कर पढ़ना आसान है। उन्हों ने संन्यास ले लिया और दयानन्द सरस्वती नाम रक्खा और अहमदाबाद आगए। वहां से कुम्भ के मेले के लिए हरिद्वार चले आए। हरिद्वार से हिमालय पर्वतों में चले गए और विचार हुआ कि अपने शरीर का अंत कर देना चाहिए। दुबारा यह विचार हुआ कि वास्तविक ज्ञान प्राप्त के पश्चात् ऐसा करना अच्छा होगा।

वहां से मथुरा में स्वामी विरजानन्द के पास आए, तब जिन की आयु अस्सी वर्ष की थी। वे प्रज्ञाचक्षु थे। आर्य ग्रन्थों पर मोहित थे, पुराणों से वे घृणा करते थे। स्वामी जी तीन वर्ष तक उनके पास व्याकरण पढ़ते रहे। तत्पश्चात् दो वर्ष आगरा में रहे। फिर भी कभी कभी स्वामी विरजानंद से मिल कर अपने संशय दूर कर लिया करते थे।

स्वामी विरजानन्द ने अलग होते समय अपने शिष्य दयानन्द को कहा—'जाओ वेदों का उद्धार करो और देशी राज्यों का सुधार करो'। यह अन्तिम मन्त्र था जो शिष्य ने गुरु से प्राप्त किया। स्वामी जी का मन उसके गिर्द फिरने लगा। पहले पहल स्वामी वैशमत की ओर झुके। ग्वालियर

में जाकर उन्हों ने वैशणव मत का खण्डन किया और कई शास्त्रार्थ करते हुए जयपुर में शैवमत की स्थापना की। महाराजा सवाई रामसिंह भी उसमें सम्मिलित हुए। हज़ारों मनुष्यों को रुद्राक्ष की मालाएं बाँटी गई। शैवमत का इतना ज़ोर हुआ कि हाथी घोड़ों के गलों में भी रुद्राक्ष की मालाएं पहरा दी गई।

इसके बाद स्वामी जी पुष्कर और अजमेर गए। अब उन्होंने शैवमत का भी खण्डन शुरू किया। महाराजा जयपुर यह सुन कर रुष्ट हो गए। स्वामी मथुरा गए और गुरु से शंका-समाधान किया। हरिद्वार जाकर पाखण्ड-मरदन नामक पताका खड़ी की। जब यह विचार मनमें आया कि सब दुनिया का विरोधी बनकर फिर गृहस्थों से बढ़कर जंजाल साथ रखना ठीक नहीं, तब सब वस्त्र परे फेंक दिए, केवल कुपीन धारण करली।

योग और सच्चे ज्ञानकी खोज के पश्चात् स्वामी दयानन्द के जीवन में दूसरी बड़ी मंज़िल आई। अब उनके काम का समय था। उन्होंने स्वयं कहा है—'अब विचार आया, जो थोड़ा बहुत ज्ञान अपने को हुआ है उसे सब लोगों पर प्रकट करना चाहिए।' इसी लिए उनका पहला काम यह था कि पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ करके उनको सत्य मार्ग पर लाया जाए। फ़रुखाबाद, रामगढ़, कानपुर, प्रयाग और काशी में दौरा करके स्वामी जी ने पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए

आमन्त्रित किया। तत्पश्चात् कलकत्ता, लखनऊ, जयपुर आदि नगरों में उपदेश दिए। पण्डित-मण्डली ने बजाए इसके कि सच्चाई का निर्णय करके उनकी सहायता करते, लोगों को उनके विरुद्ध उकसाया और वे उन्हें मारने के लिए तैयार हो गए। स्वामी जी इस तरीक़े में सफल न हुए। कारण यह था कि जिन लोगों द्वारा वे हिन्दू धर्म का उद्धार करना चाहते थे, वे इतने स्वार्थी थे कि लोगों को जागृत करने में उनको अपनी रोटी बन्द हो जाने का फ़िक्र थी।

इस के बाद स्वामीजी ने शिक्षा की ओर ध्यान दिया। काशी, फ़रुखाबाद आदि कुछ नगरों में संस्कृत पढ़ाने के लिए उन्हों ने चार पाठशालाएं स्थापित कीं। इन पाठशालाओं के अध्यापक भी उसी पण्डित-मण्डली में से लिए गए थे। इस लिए इन के द्वारा भी मतलब पूरा न हुआ। इस के पश्चात् स्वामीजी ने बम्बई जाकर आर्यसमाज नामक एक सभा बनाई। उस के लिए स्थान स्थान पर प्रचार आरम्भ किया। स्वामीजी के अपने शब्दों में—आर्यावर्त की उन्नति के लिए मुझ जैसे बहुत से उपदेशक आप के देश में उत्पन्न होने चाहिएं। यह काम अकेला मनुष्य अच्छी तरह नहीं कर सकता। फिर भी मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अपनी बुद्धि और साहस के अनुसार गुरु से जो दीक्षा ली है, उसे लाऊँगा।

इस समय बङ्गाल में बाबू केशवचन्द्र सेन ब्राह्मसमाज

के बड़े नेता थे। बम्बई में श्री रानाडेय सुधार के पक्षपाती थे। मुसलमानों में सर सैयदअहमद बड़े सुधारक थे। पण्डितों से निराश होकर स्वामीजी का विचार हुआ कि सच्चाई के सिद्धान्तों पर यदि इन सुधारकों में मिलाप पैदा किया जाय तो देश में एक धर्म होने की सम्भावना हो सकती है। उन्हों ने अपने "सत्यार्थप्रकाश" की भूमिका में इस विचार को प्रकट किया है—"आज कल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मत में हैं वे पक्षपात छोड़ सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् जो जो बातें सब के अनुकूल सब में सत्य हैं उन का ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उन का त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे। क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेक विध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने जो कि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबो दिया है।" सत्यार्थप्रकाश के अन्त में स्वामीजी इसी बात को फिर दोहराते हैं—जो जो बात सब के सामने माननीय है उन को मानता अर्थात् जैसे सत्य बोलना सब के सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूँ और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं उन को मैं पसन्द नहीं करता क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर मनुष्यों को फँसा के परस्पर शत्रु बना दिए हैं

इस बात को काट सर्व सत्य का प्रचार कर सब को ऐक्यमत में करा द्वेष छुड़ा परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त करा के सब से सबको सुख लाभ पहुंचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जांव, जिस से सब लोग सहज से धर्म्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि कर के सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।" इन शब्दों से स्पष्ट मालूम हो रहा है कि स्वामी दयानन्द कोई नया धर्म खड़ा करना नहीं चाहते थे। प्रत्युत एक 'सर्वतन्त्र' धर्म की नींव रखना उनका उद्देश्य था। १८७७ में क़ैसरी दरबार हुआ। इस अवसर पर स्वामी जी ने सब सुधारकों को इस उद्देश्य से एकत्र किया कि कुछ सर्वमान्य नियमों पर उनको एक-मत किया जाय। परन्तु मेल की कोई सूरत न दिखाई पड़ी। जब तक भिन्न भिन्न धर्मों में उन के प्रवर्त्तकों का व्यक्तित्व प्रधान रहेगा कभी झगड़े का बीज दूर न होगा। स्वामी जी ने धर्म के जो लक्षण बताए हैं, उन को ब्रह्मा से लेकर जैमिनी तक सभी ऋषि मानते चले आए हैं। उन में किसी ऋषि का व्यक्तित्व प्रवेश नहीं कर सका। वैदिक धर्म का आधा गायत्री मंत्र है। इसे वेदों की माता कहा जाता है। वह क्या है? 'परमात्मा हमारी बुद्धियों को प्रकाशमय करे, जिस से हम सत्य और असत्य में पहिचान कर सकें।'

इस के बाद स्वामी जी पंजाब में आए। पंजाबी वेद-शास्त्र के नाम को भूल चुके थे। परन्तु पंजाब के हिन्दुओं में एक बात थी। वे धार्मिक परतन्त्रता के जाल में न फंसे थे। स्वामीजी को लाहौर में बहुत सफलता हुई। लाहौर में आर्यसमाज स्थापित करने के लिए बम्बई आर्यसमाज के नियमों में कुछ परिवर्तन कर के दस नियम बनाए गए और शेष सब नियमों को उपनियमों में रख दिया गया। लाहौर में स्वामी जी अनारकली के एक विशाल भवन में व्याख्यान दिया करते थे। एक दिन आर्यसमाज की एक बैठक में बाबू शारदाप्रसाद ने सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पेश किया कि स्वामी जी को संरक्षक या प्रवर्त्तक की पदवी दी जाय। इस पर स्वामी जी ने कहा—'मेरा काम इस प्रकार के पंथ तोड़ना है। मैं कोई नया पंथ स्थापित नहीं करना चाहता। ऐसा प्रस्ताव पेश करने से फिर वही दिक्कत पेश आएगी, जो दूसरे नवीन पंथों के सामने आती है'। आर्यसमाज के उपनियमों में आता है—आर्यसमाज का उद्देश्य वही है जो उस के नियमों में वर्णित है—'जो मनुष्य आर्यसमाज के उद्देश्यानुसार आचरण करना चाहता है वह उसका सदस्य बन सकता है'। ब्राह्मसमाज को सम्बोधित कर के स्वामी जी कहते हैं—जो उन्नति करना चाहो तो आर्यसमाज के साथ मिलकर उस के उद्देश्यानुसार आचरण करना स्वीकार करो।

आर्यसमाज के नियमों में सिद्धान्तों का उल्लेख कहीं नहीं है। स्वामीजी ने निस्सन्देह दूसरे धर्मों के माने हुए ग़लत सिद्धान्तों का ज़ोर से खण्डन किया है। और उनके मुक़ाबले पर अपने उन सिद्धान्तों की सचाई को सिद्ध किया है, जिनको वे वैदिकधर्म के अनुकूल मानते थे। परन्तु आर्यसमाज का सदस्य होने के लिए उन्होंने विशेष सिद्धान्तों का मानना आवश्यक नहीं समझा। उन्होंने जो मन्तव्य लिखे हैं, उन सबको वे अपने निजके मन्तव्य बतलाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि आर्यसमाज उन्हें माने। उनके साथ उन्होंने लिखा है—'मैं अपना मन्तव्य उसी को सुनाता हूँ, जो तीन काल सबको एकसा मानने योग्य हो। मेरी कोई नवीन कल्पना या (नया) मत चलाने का कुछ भी विचार नहीं। प्रत्युत जो सत्य है उसे मानना मनवाना और जो असत्य है उसे छोड़ना, छुड़वाना मुझको सब से प्यारा है'।

मैं इतना लिखने के पश्चात् इस परिणाम का वर्णन करना चाहता हूँ कि यदि आर्यसमाज कोई नया धर्म नहीं तो उस के कोई विशेष सिद्धान्त नहीं। वर्त्तमान समय में सिद्धान्त बनाना ही धर्म [मज़हब] की नींव डालना है। यदि आर्यसमाज नया धर्म नहीं तो क्या है? देश और धर्म की रक्षा करने के लिए एक आँदोलन! ऐसी अवस्था में आर्यसमाज का तथा हिन्दु-संगठन, और मेरे विचार में सनातनधर्म सभा का भी उद्देश्य एक ही है—देश और धर्म,

जिसे स्वामी दयानन्द के शब्दों में—ब्रह्मा से लेकर जैमिनि तक सब ऋषि बताते चले आए हैं।

देश की कथा।

स्वामी दयानन्द के हृदय में देश और जाति की उन्नति का विचार भरा था। आर्यसमाज को उन्हों ने किसी नए धर्म के खड़ा करने के लिए स्थापित नहीं किया, प्रत्युत अन्य कई साधनों की तरह इसे भी हिंदुओं की उन्नति का एक साधन बनाया ताकि इस के द्वारा उन का उद्देश्य पूर्ण हो सके। बम्बई में पहली आर्यसमाज क़ायम करके व पूना में और वहां दो मास ठहर कर पन्द्रह व्याख्यान दिए, जिन में से पहले सात व्याख्यान ईश्वर-सिद्धि, धर्माधर्म, वेद, जन्म, यज्ञ तथा संस्कारों पर थे। शेष सब व्याख्यानों का विषय भारत-इतिहास था। उन के पढ़ने से हमें यह मालूम होता है कि स्वामी दयानन्द के हृदय में देश का प्रेम कितना कूट कूट कर भरा था, और किस प्रकार वे अपनी जाति की वर्त्तमान पतित अवस्था पर आँसू बहाते थे। देशाभिमान से खाली आर्यसमाज स्वामी दयानन्द की बनाई नहीं हो सकती। इसे

सिलसिले में उन्हों ने आरम्भ से भारत-इतिहास को लिया है—

सृष्टि-उत्पत्ति—मुक्त प्रकृति अर्थात् शून्य से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। यह सारा पसारा परमाणुओं से हुआ। ईश्वर का प्रधान सामर्थ्य प्रकृति कहलाती है। वही जगत् का उपादान कारण है। यह अव्यक्त प्रकृति अव्यक्त स्थान आकाश में रहता है!

यह प्रश्न कि ईश्वर का सृष्टि उत्पन्न करने में क्या प्रयोजन है गलत है, क्योंकि ईश्वर के लिए प्रयोजन शब्द कहना सम्भव नहीं हो सकता। उस का समर्थ होना ही इस सृष्टि का उत्पत्ति कारण है। यह सामर्थ्य जब व्यक्त होने लगा तब इसी का नाम सृष्टि हुआ।

जब अनन्त परमाणुओं का संयोग हुआ तब पंच महाभूत उत्पन्न हुए। इन से सूर्य, चन्द्र पृथ्वी आदि जैसे पहले बने थे फिर बने। उद्भिज और जीव सृष्टि के असंख्य बीज हैं। यह परमात्मा का सामर्थ्य है कि एक बीज में असंख्य बीजों के उत्पन्न करने की शक्ति है। औषधी से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर बनता है। बनस्पति से पशु और पशुओं के बाद मनुष्य उत्पन्न हुआ। उन की संख्या बहुत थी। प्रारम्भिक मानुषी संसार हिमालय के किसी भाग में हुआ।

भाषा—ये आर्य लोग एक भाषा बोलते थे। इनके सात

चार, बारह मास और बारह राशियां समस्त जगत् में पाई जाती हैं। देश काल-भेद, आलस्य और प्रमाद के कारण रहनसहन में अन्तर आने पर और एक ही मूल से भिन्न भिन्न भाषाएं उत्पन्न हुईं।

वेद—वेद के पढ़ने पढ़ाने में सब से पहला ज्ञान है। ब्रह्मा आदि ब्राह्मण, आदि आचार्य और आदि गुरु हैं। उस का पुत्र विराट और उस की परम्परा से स्वयम्भू मनु तक वेद का उपदेश किस प्रकार हुआ यह मनुस्मृति में वर्णित है।

व्यवस्था—मनुष्य सृष्टि उत्पन्न होते समय एक ही मनुष्य-जाति थी। आर्य और दस्यु का भेद बाद में हुआ। ऋग्वेद में कहा है—विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो—अर्थात् आर्य शब्द से विद्वान् और दस्यु से दुष्ट लोग समझे जाते थे। इस के पश्चात् आर्यों में गुणकर्मानुसार चार वर्ण हुए—ब्राह्मण अर्थात् पूर्ण विद्वान्, क्षत्रिय अर्थात् मध्यम विद्याधिकारी, वैश्य अर्थात् कनिष्ठ विद्याधिकारी और शूद्र अर्थात् अविद्या का स्थान। इन चारों के धर्म भिन्न भिन्न हो गए। अब चार आश्रम भी बन गए। ब्राह्मण का धर्म लोगों में शिक्षा का प्रचार है। उनकी जीविका शिक्षा देने और यज्ञ आदि कराने की दक्षिणा होनी चाहिए। ब्राह्मणों का मुख्य धर्म तो ज्ञान और विज्ञान लाभ करना है। उन्हें सब बातों का ठीक ठीक निर्णय करना होता है। उन्हें शम-अन्तःकरण की वृत्तियों का शमन, दम—इन्द्रियों का दमन और तप—

विद्या का अनुष्ठान करना चाहिए। ब्राह्मणों में जब गुण उत्पन्न होंगे तब ही देश सहज में वैभव को प्राप्त होगा। ब्राह्मणों में केवल घमण्ड ही रहता है। क्षत्रियों के धर्म--शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध में जय, दान, ईश्वरभाव अर्थात् आज्ञा देना और प्रजा का रक्षण और उस से यथार्थ अनुवर्त्तन करवाना है। पशु-पालन, खेती, व्यापार, इज्या और दान वैश्य के धर्म हैं। शूद्र का धर्म सेवा करना है।

राज्य-व्यवस्था—यह व्यवस्था स्वयम्भू मनु के समय तक पूर्ण हुई। मनु के दस पुत्र थे। मरीचि पहला क्षत्रिय राजा हुआ। कश्मीर से लेकर नेपाल तक इस देश में देवता लोग रहते थे। तब वहां अब की तरह बर्फ न पड़ती थी। यहां के भद्र लोग भिन्न भिन्न स्थानों में राज करते थे। यहां पर छः क्षत्रिय राजाओं की परम्परा हुई। विराट् का पुत्र विष्णु था, जिस का राज्य वैकुण्ठ कहलाता था। अग्निष्वात्त का पुत्र महादेव हुआ, जिसने कैलाश में अपना राज्य बनाया। यही नाम वंशों के पड़ गए। विश्वकर्मा नामक एक विद्वान् कारीगर ने विमान बनाया। आर्य लोग इन विमानों में बैठ कर घूमते थे। इस के पश्चात् इक्ष्वाकु राजा हुआ।

आर्यावर्त—अब आबादी बहुत बढ़ने लगी। राजा इक्ष्वाकु पहला राजा था, जिस ने भारतखण्ड में आ कर वास किया। आर्यावर्त्त की सीमाएं ये हैं—पश्चिम में सरस्वती अर्थात् सिन्धु, पूर्व में ब्रह्मपुत्र, उत्तर में हिमालय आदि, दक्षिण में विंध्याचल।

यह देश कैसा सुन्दर और उपजाऊ है। यहां का जल-वायु कितना उत्कृष्ट है। छहों ऋतु कैसे क्रम से आते हैं। ये सब लोग अपने आप को देव अर्थात् विद्वान् कहते थे। इसी से गंगा का नाम देवनदी पड़ गया। इस का पहला नाम पद्मा था। भागीरथ राजा ने इस से एक नहर निकाली थी, जिस से लोग इसे भागीरथी भी कहने लगे। सब लोगों ने ईश्वर को सब से योग्य समझ कर राजसभा के प्रधान पद पर बिठाया था। इस के काल में लोग सियाही से लिखने लग गए थे। सब कुछ कण्ठस्थ करने का तरीका तब बन्द होगया था। इन अक्षरों की वर्णमाला का नाम देवनागरी (अर्थात् विद्वानों का नगर) हुआ। ये अक्षर नियत करके उन्होंने ग्रन्थ लिखने आरम्भ किए।

प्रबन्ध—सब लोग वेद की आज्ञा के अनुसार चलते थे। भृगुजी ने अपनी संहिता में लिखा है—यहां पर ग्राम (सौ घर का), महाग्राम (हज़ार घर का), नगर (दस हज़ार घर का) और पुर (दस हज़ार से अधिक घरों का) होते थे। सौ ग्रामों पर एक अधिकारी शतेश, हज़ार पर सहस्रेश, दस हज़ार पर महा सुशील नीतिवान् अधिकारी होता था। राज्य के गुप्त दूत खबर रखते थे कि भिन्न भिन्न अधिकारी किस प्रकार अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं। ये अधिकारी चार प्रकार के होते थे—राज्याधिकारी, सेना-अधिकारी, न्याय-अधिकारी, कोषाधिकारी। देश में भिन्न भिन्न प्रकार की

अनेक सभाएं होती थीं, जिन में राजसभा मुख्य होती थी। स्थान स्थान पर धर्मसभाएं (परिषदें) होती थीं, जिन में कम से कम दस विद्वानों का इकट्ठा होना आवश्यक था। साधारण कामकाज के लिए तीन का कोरम आवश्यक था। धर्मसभा को कोई अधिकार न था। इस सभा की बैठकों में धर्माधर्म-निर्णय और धर्मोपदेश होते थे. शिल्पियों और व्यवसायियों की उन्नति की ओर भी इस का ध्यान रहता था। यदि सभा में मत-भेद होता तो निर्णय करना अध्यक्ष के हाथ में होता था। राजा महाराजा ऋषि मुनियों के साथ वादविवाद में अपना कुछ समय व्यतीत करते थे। यदि राजा कोई अपराध करता तो गरीबों की अपेक्षा उसे सौ गुना अधिक सज़ा दी जाती। यदि राजा मूर्ख होता था तो उस से राज-अधिकार छीन लिए जाते थे। इस समय हमारे नरेशों को खुशामदियों की चण्डाल चौकड़ियों ने घेरा हुआ है। स्वभावतः यदि वर्त्तमान रजवाड़ों में सभी तरह के अवगुण पाए जाते हों तो यह आश्चर्य की कोई बात नहीं। सारांश में हमारे आर्यावर्त की इस समय बड़ी दुर्दशा है।

सेना-सैनकों को धनुर्वेद की शिक्षा दी जाती थी। आज्ञा-पालन करना सैन्य का मुख्य धर्म होता था। उन्हें क़वायद की अनेकों विधियां आती थीं, जैसे मकरव्यूह, बकव्यूह, बलाकव्यूह सूचीव्यूह, शूकरव्यूह, शकटव्यूह, चक्रव्यूह, इत्यादि। उन के हथियार शक्ति, असि (तलवार), भुशुण्डी (बन्दूक़)

और शतघ्नी (तोप) आदि होते थे। अंगरेज़ों को अभी तक व्यूह बनाने का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ. थोड़ी बहुत क़वायद जानते हैं। इतने ही में तुम लोगों को विश्वास होगया है कि प्राचीन आर्यों की अपेक्षा ये युद्ध-विद्या में अधिक निपुण हैं। तब जो कोई युद्ध में मरता था, उस के लड़केबालों को गुज़ारा मिलता था और युद्ध में जो लूट हाथ आती थी, उचित समय पर उसे बाँट दिया जाता था। सेना की योग्य व्यवस्था के लिए उस की बड़ी चिन्ता की जाती थी। और यह जान कर कि समस्त ऐश्वर्य का मूल सेना ही है अधिकारी वर्ग को इस बात का सदा ध्यान रहता था कि कोई सैन्य चिन्ता-ग्रस्त न हो। जब कोई सैन्य बीमार हो जाता तब उसकी सेवा का उचित प्रबन्ध किया जाता।

राजा इक्ष्वाकु के राज्य में राज्य का प्रबन्ध इस प्रकार चलता था। वह बड़ा सुशील, नीतिमान, सुज्ञ, जितेन्द्रिय, विद्वान् और सर्वगुणसम्पन्न था। बहुत-सी पीढ़ियों के पश्चात् राजा सगर राज्य करने लगा। यह भी बहुत सुशील और नीतिमान था। इस के हां एक मूर्ख और दुष्टबुद्धि असमंजस नामक पुत्र हुआ। असमंजस ने एक बार एक ग़रीब के बालक को पानी में फेंक दिया। मुक़द्दमा राजसभा में पेश हुआ, जिस ने निर्णय किया। राजा की ओर से उसे दण्ड मिला: उसे एक महाभयंकर बन में क़ैद कर दिया गया। सगर के बाद अग्नीचर राजा बना। यह गुब्बारह की विद्या

अच्छी तरह से जानता था। अयोध्या में ऋतुपर्ण नामक राजा राज्य करता था। इधर दक्षिण में नल का राज्य था। दमयन्ती नल की रानी थी। नल का अपनी पत्नी से वियोग हो गया। दमयन्ती अयोध्या पहुंचाई गई। वहां उस का दूसरा स्वयम्बर हुआ। ऋतुपर्ण वहां जाना चाहता था। नल को अश्वविद्या अर्थात् अग्निविद्या आती थी। इस के द्वारा उस ने राजा को एक ही दिन में अयोध्या जा पहुंचाया। इस के अनन्तर राजा भरत हुआ, जिस के नाम से हमारा देश का नाम--भारत-प्रसिद्ध हुआ। तदनन्तर अयोध्या में राजा रघु हुआ, जिस की सन्तान से रामचन्द्र हुआ।

सामान्य अवस्था--इन विद्वानों (देवों) का असुरों के साथ युद्ध हुआ करते थे। देव विमानों में बैठ कर युद्ध किया करते थे। जहां कहीं स्वयंवर होता था, इन विमानों में बैठ ये तत्काल ही वहां पहुंच जाते थे। युद्ध में पुरुष बड़ी वीरता से लड़ते थे। उन की अर्द्धांगिनियां अपने स्वामियों का साथ देती थीं। उन की रीतिनीति आजकल के राजपूतों से बहुत मिलती थी। वे देव तो मर गए, परन्तु देव-जाति अमर है।

शिक्षा - इस समय वेद, ब्राह्मण, उपवेद, वेदाङ्ग आदि की शिक्षा दी जाती थी। यह बारह वर्ष का अध्ययन-क्रम था। बाद में दर्शनों का पाठ भी उपरोक्त क्रम में सम्मिलित किया गया। कौशीतकी ब्राह्मण में लिखा है कि उस समय

जब लड़की या लड़का पाँच वर्ष का होता था तब उसे पाठशाला में बिठा दिया जाता था। यह सामाजिक नियम था। यदि माता पिता इस नियम को तोड़ते तो राजसभा से उन्हें दण्ड मिलता था। तब आर्यावर्त्त में सब ओर वैभव और ऐश्वर्य था, और इस देश के राजाओं की प्रसिद्धि समस्त संसार में फैल रही थी। योरप और अमरीका के राजा भी इन की सेवा करते थे। वे इन्हें कर देते थे। ये बातें महाभारत के राजसूय और अश्वमेध पर्वों में वर्णित की गई हैं। जनमजय के राज्यकाल तक चारों वर्णों के पारस्परिक बर्ताव और सामाजिक नियम राजसभा, विद्यासभा और धर्मसभा द्वारा नियमेण चले आए थे। अब विचारिए कि वर्त्तमान काल में इस देश की दशा कैसी गिर गई है!

मनु जी कहते हैं—प्राचीन काल में स्त्रियों और पुरुषों के अधिकार एकसमान थे। पुराने आर्यों में गार्गी, मैत्री आदि कैसी विदुषी महिलाएं थीं। अब यह दशा है कि स्त्रियों को विद्या-प्राप्ति का अधिकार नहीं है और वे शूद्र-समान हैं। यदि स्त्रिएं पण्डितों की दीवानापन की बड़ न सुनतीं और झट उनका खंडन करतीं तो उनका मुंह बन्द होजाता।

विवाह—प्राचीन आर्यों में बहुत समय तक ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने की रीति थी। छोटी आयु में विवाह का तब नाम-व-निशान न था। प्राचीन ग्रन्थों में स्वयम्बर का ही उल्लेख आता है। इस समय हमारे हां यदि बाल-विवाह की

रीति न होती तो न विधवाओं की इतनी संख्या होती, न इतनी सन्तान मरती और न ही इतनी बीमारियां दिखाई पड़तीं। विवाह में स्त्री पुरुष में परस्पर प्रतिज्ञा होती है कि दोनों के मन और चित्त एक होंगे और वे कभी एक दूसरे के विरुद्ध न जाएंगे। बचपन में विवाह होने से भला लड़का या लड़की इन बातों को क्या जान सकता है। पण्डित लोग कहते हैं कि केवल मंत्र के श्रवण से मनुष्य में बड़प्पन आजाता है, चाहे श्रोता उसका विषय समझे या न समझे।

प्राचीन काल में आजकल का बिक्री-विवाह या पशु-विवाह न होता था। मारवाड़ियों ने इस पर और भी टिप्पणी चढ़ा दी है। लड़के लड़की का सम्बन्ध वे उस समय ही कर देते हैं, जब कि सन्तति अभी गर्भ में होती है। यह कैसी बेहूदा बात है। विवाह के अवसर पर धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति की पारस्परिक प्रतिज्ञा होती है। इस प्रतिज्ञा के बिना कन्या और वर का विवाह पूर्ण कैसे हो सकता है? तब यह भी आवश्यक था कि प्रत्येक मनुष्य विद्यालाभ करे। जब तक दोनों विद्याओं से विभूषित न होते थे तब तक लड़के या लड़की को राजसभा से विवाह करने की अनुमति न होती थी। यदि किसी धनाढ्य मनुष्य की सन्तति न होती तो उस के धन का स्वामी बनाने के लिए आर्यसभा में विचार होता था और यदि कोई विधवा होती तो उस के साथ धनवान् को नियोग करने की अनुमति दी जाती थी।

साधारण विधवाएं ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करती थीं।

पुनर्विवाह तथा नियोग—पुनर्विवाह से स्त्री पुरुष का सम्बन्ध आयु भर के लिए होता है। और जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह दूसरे पति की सन्तान समझी जाती है: वह उसी का नाम चलाती है। आर्यों में विधवा-विवाह की अपेक्षा नियोग अच्छा समझा जाता था, क्योंकि यदि विधवा-विवाह की अनुमति मिल जाए तो स्त्रियें अपने पतियों को विष दे कर मारना आरम्भ कर दें। और यदि पहले पति की सम्पत्ति लेकर दूसरा विवाह करे तो नए और पहले पति के सम्बन्धियों के मध्य में झगड़े खड़े हो जाएं। तब जिस विधवा का विवाह हो जाता था, वह शूद्रा समझी जाती थी। विधवा-विवाह की रीति केवल शूद्रों में थी। द्विज परस्पर नियोग करते थे। जो लोग विधवा विवाह का विरोध करते हैं, उनका समर्थन करने और विधवा-विवाह का विरोध करने की मेरी इच्छा नहीं है। हां इतना कहना आवश्यक समझता हूँ कि ईश्वर के सामने स्त्री और पुरुष एक-समान हैं। वह न्याकारी है। वह पक्षपातरहित है। जब पुरुष को दुबारा विवाह करने की अनुमति दी जाय तो स्त्री को दूसरे विवाह से क्यों रोका जाता है? प्राचीन आर्य लोग यति, विचारशील और विज्ञ होते थे। आजकल के लोग अनार्य बन गए हैं। किसी पुरुष की जब इच्छा होती है तभी वह जितनी चाहता है उतनी स्त्रियां कर लेता है। देशकाल

या शास्त्र की अब कोई क़ैद नहीं रही। क्या यह अन्याय नहीं ? क्या यह अधर्म नहीं ? आजकल की सामाजिक अवस्था देखकर तो मानना पड़ता है कि यह विधवा-विवाह सब प्रकार से अच्छा है।

नियोग और प्राचीन विधि से विवाह बन्द होजाने से आर्यों में भ्रष्टाचार फैला है। यह आप लोग देख ही रहे हैं। आजकल हज़ारों गर्भ गिराए जाते हैं। दो गर्भ गिराने से ब्रह्म-हत्या का पाप होता है। विचारिए, इस देश में कितनी हत्याएं हो रही हैं! क्या कोई गिन सकता है ? अब सब पापों का बोझ नए आर्यों के सिर पर है। देखिए, प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के बिगड़ जाने से हमारे देश की कैसी दुर्दशा होगई है। वेदमार्ग को एक ओर धकेल कर पुष्टि-मार्ग चमक रहा है। महाराजों और महन्तों के लिए चारों ओर से सुख-भोग की सामग्री इकट्ठी की जा रही है। देवालयों, मठों और मन्दिरों में पाप की भीड़ हो रही है। वर्त्तमान समय पाप, दुराचार और अनर्थ का समय बन रहा है। जब तक सामाजिक व्यवस्था की उपेक्षा की जायगी, विचार के लिए तिलाञ्जली होगी, उपाध्याय, भिखारी और शास्त्री महाराज के कथनानुसार लोकाचार की ज़बरदस्ती होगी और अँधी परम्परा को ही ज़बरदस्त माना जायगा, तब तक देश का उठना सम्भव नहीं। धर्म के मामले में लोग परम्परा का बड़ा सम्मान करते हैं। परन्तु क्या सांसारिक बातों में

भी ऐसा है ? क्या यदि पिता ग़रीब है तो परम्परा के अभिमान से पुत्र भी निर्धन ही रहेगा ? यदि पिता अँधा है तो क्या पुत्र भी वैसे ही अपनी आँख फोड़ लेगा ? मध्य-काल के पागलपन को परम्परा कहने से हमें बाज़ रहना चाहिए। सत्योपदेश करनेवाले ऋषियों की रचनाओं और वेद का, जो वास्तविक परम्परा है, अनुसरण करना चाहिए।

राजा शन्तनु—एक के बाद दूसरा राजा आर्यावर्त्त में राज्य करते रहे कि राजा शन्तनु का समय आ पहुंचा। तब आर्यावर्त्त में धन बहुत बढ़ गया। ऐश्वर्य के नशे में अवस्था बिगड़ने लगी। सब सामाजिक नियमों में शैथिल्य आरम्भ हुआ। राजा को भी अपने धन का बड़ा गर्व था। वह वेश्याओं के वश में हो गया। देश में व्यभिचार बढ़ने लगा। राज्य-प्रबन्ध में खराबियां शुरू हुईं। देश का भाग्य उलट गया। राजाओं का इतिहास समाप्त हो गया। महाभारत के युद्ध तक नौबत आ पहुंची। राजा को एक मल्लाह की लड़की सत्यवती से प्रेम हो गया। जब तक भीष्म ने अपने समस्त अधिकार सत्यवती की सन्तान को दे देने और स्वयं आयुभर ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा न की थी, तब तक उस के पिता ने राजा का कहना न माना। इस विवाह से राजा के दो पुत्र हुए—चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य। भीष्म काशी-नरेश से तीन कन्याएं ले आया। इन में से अम्बा का विवाह शाल्व से हुआ, अम्बिका का चित्रांगद से और

अम्बालिका का विचित्रवीर्य से। ये दोनों निस्सन्तान थे। तब व्यास के साथ नियोग होने से पाण्डु, धृतराष्ट्र और दासी का पुत्र उत्पन्न हुए। पाण्डु ने दो स्त्रियों-कुन्ती और माद्री के साथ विवाह किया। माद्री ईरान देश के राजा की पुत्री थी। धृतराष्ट्र की रानी गांधारी गांधार की रहनेवाली थी। उस का भाई शकुनि वहां का राजा था। कुन्ती और माद्री दोनों ने सन्तान के लिए नियोग किया। एक से युधिष्ठर, भीम और अर्जुन उत्पन्न हुए, दूसरी से नकुल और सहदेव। धृतराष्ट्र कपटी-स्वभाव और पाण्डु भद्र पुरुष था। पाण्डु की एक रानी माद्री सती हो गई। सती होने की अनुमति वेद में नहीं है। यह रीति पहलेपहल पाण्डु से चली।

धृतराष्ट्र ने अपने और अपने भाई के सभी लड़कों को द्रोणाचार्य और कृपाचार्य के सुपुर्द कर दिया। तब ब्राह्मण आचार्य युद्ध की क़वायद में बड़े पटु होते थे। अर्जुन ने गुरु के पास धनुर्विद्या का अभ्यास किया। इस लिए इस विद्या में उस की प्रसिद्धि चहुं ओर फैल गई। अर्जुन का मुक़ाबला करनेवाला केवल कर्ण ही था। कर्ण सूतपुत्र था। इस लिए अर्जुन ने कर्ण का अनादर किया। इस घटना से फ़ायदा उठाने के लिए धृतराष्ट्र ने बङ्गप्रदेश का राज्य देकर उसे क्षत्रिय का अधिकार दे दिया। इस प्रकार अनुचित गर्व से उस राजकुल में द्वेषाग्नि भड़क उठी। इस द्वेष से, अपने आर्या-

वर्त्त की जो दुर्दशा हुई वह उल्लेखनीय नहीं।

सर्वनाश के कारण—इस युद्ध ने प्राचीन आर्यों को नष्ट कर दिया। इसका कारण यह था कि मन्त्र देना नीच लोगों के सुपुर्द था। इस प्रकार अयोग्य मनुष्य उपदेष्टा बन बैठे। जहां शकुनि जैसे राजमन्त्री हों और कणक जैसे महाराज धर्माधर्म का निर्णय करने लगें, वहां यदि गृह-युद्ध से वंश का नाश हो गया तो आश्चर्य की कौन सी बात है। तब आर्यों में दुर्गुण उत्पन्न होने लगे। एक ही उदाहरण पर्याप्त है। भीष्मपितामह जैसा विद्वान् और दृढ़ व्रती मनुष्य कौरवों और पाण्डवों का फैसला न कर सका, और धन की परवशता स्वीकार करके सारे वंश को नष्ट होने दिया। वह स्वयं कहता है—अपने स्वार्थ से बँधा हुआ मैं कौरवों की ओर हूँ।

इस बड़े युद्ध के पश्चात् केवल स्त्रियां शेष रह गईं। उनमें परीक्षित नामक एक लड़का भी था। वह कुबुद्धि था। आर्य ग्रन्थ उसकी समझ में न आते थे। इस कारण उसके शासन-काल में पुराणों का रिवाज चला। परीक्षित का उत्तराधिकार जनमेजय हुआ। उसके बाद वज्रनाथ ने राज्य किया। इसने सब कुछ नष्ट कर दिया। राज्यसभा, विद्यासभा और धर्म सभा तीनों टूट गईं। सब लोग अब एक राजा के आदेश पर चलने लगे। सदाचारी विद्वान् जो प्रजा से राजनियम पालन करवाने का अधिकार रखते थे अब कम होगए। व्यास, जैमिनी,

भीष्मपायन आदि सब मर गए। चक्रवर्ती राज्य नष्ट होगया। उसके स्थान पर सब जगह उसके अवशेष छोटे छोटे राज्य रह गए। ब्राह्मणों से विद्या जाती रही और अभिमान बढ़ने लगा। लोगों के हृदय पशुतुल्य और पापमय होगए।

अँधेरे में भ्रमजाल—इस अविद्या-काल में ब्राह्मणों की शक्ति बढ़ने लगी। उन्होंने भिन्न भिन्न प्रकार के पाखंड, मूर्त्तिपूजा, व्रत आदि चलाकर लोगों को भ्रम-जाल में फंसा लिया। ब्राह्मण-वाक्य जनारदन हैं। कुल तीर्थ ब्राह्मणों के पाँव में हैं। ऐसे ऐसे वाक्यों में बेचारे भोले लोग फंस गए। महूर्त्त बताने की खटपट में बुद्धिहीन मनुष्यों को उन्होंने अपना पिछलग बना लिया। प्राचीन ग्रन्थों में अपने बनाए श्लोक डालकर उन्होंने अपनी शक्ति बढ़ा ली। सत्यचारित्रता प्रति दिन कम होने लगी और अन्याय बढ़ने लगा।

बौद्धमत—ऐसी दुर्दशा में कपिलवस्तु के राजा के हां एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो पीछे बुद्ध बना। इस ने वेदों की निन्दा करके, ब्राह्मणों के अत्याचार से शेष वर्णों को मुक्ति दिलाने का मार्ग निकाला। देश में बौद्धमत फैल गया। तत्पश्चात् जैन-मत फैलना आरम्भ हुआ। ये दोनों मत ईश्वर को न मानते थे। इन्होंने अपने तीर्थङ्करों का पूजन आरम्भ किया। तब से महापुरुषों की मूर्त्तियां बनने का रिवाज शुरू हुआ पहले जैनों ने महावीर पारसनाथ की मूर्त्ति बनाई। तत्पश्चात् चौबीस तीर्थङ्कर हो गए।

इन दोनों ने वेद-मार्ग को मिटाने के लिए उस पर कड़े दोष लगाए—"वेद में अश्लील कथाएं हैं, हिंसा है, अनेक देवताओं का वाद है, जिस में क्षत्रिय और वैश्य का पक्ष लिया गया है।......" उन्होंने हज़ारों पुस्तकें जला दीं।

शंकर—अब गौड़ाचार्य के शिष्य शंकराचार्य जी उत्पन्न हुए। वे वेद-मार्ग और वर्णाश्रम को मानते थे। उन की योग्यता कितनी थी, यह 'शांकरभाष्य' से विदित होता है। भिन्न भिन्न मतों के खंडन का उल्लेख 'शंकरदिग्विजय' में है। शंकर का सुधनवा नामक एक जैन राजा से शास्त्रार्थ हुआ। इस में शर्त यह थी कि जिसका मत ग़लत प्रमाणित हो वह दूसरे का मत ग्रहण करे। राजा हार गया। उसने वेदमत स्वीकार किया। तत्पश्चात् शंकर बुधगया में गया। वहां का नरेश बौद्ध था। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों को न मानता था। शंकराचार्य ने इसे भी जीतकर वैदिकधर्म में प्रवेश कराया।

बौद्ध-मत का पतन आरम्भ हुआ। जैनमत ने उसका स्थान ले लिया। जैन लोग चींटी, कुत्ता आदि प्राणियों की अत्याधिक रक्षा करनेवाले होने के कारण मनुष्य-जीव के सम्बन्ध में दयाभाव से काम न लेते थे। बौद्ध और जैनमतों के प्रसार से आर्य क्षत्रियों की वीरता नष्ट हो गई।

हिन्दू राजा—इस के बाद विक्रमादित्य, भर्तृहरि, भोज, शालिवाहन आदि अनेक राजा हुए। कालिदास प्रसिद्ध

पण्डित हुआ। पहले दैवतपुराण, वायुपुराण आदि दो तीन पुराण थे अब पुराणों की संख्या बढ़ने लगी। देश में मूर्त्ति-पूजा की प्रथा होने से मतमतान्तर इतने बढ़े कि उन की दुर्दशा की कोई हद न थी।

वर्त्तमान परिस्थिति—अब तो सारा मामला ही उलट हो गया है। घास के तिनके को तोड़ने में देर लगती है किन्तु हमारे धर्म टूटने में देर नहीं लगती। चोटी में गाँठ न लगी तो धर्म गया। अँगरखा लम्बा हो गया तो धर्म गया। खान-पान में तो बड़ा बखेड़ा हो गया है। इन खाने पीने की बंदिशों ने युद्ध करनेवाली जातियों को भीरू बना दिया है। और चौका लगा कर बैठे बैठे अपने सारे बड़प्पन पर चौका फेर दिया है। प्राचीन काल में सब क्षत्रिय, राजा और ब्राह्मण एक ही पंक्ति में बैठ कर भोजन किया करते थे। यही ढंग रणजीतसिंह के समय में सिक्खों का था। व्यर्थ बातों और फ़ुजूल रीतियों से कहीं जीवन का उद्देश पूर्ण होता है? बड़ी बड़ी बिरादरियों के अन्दर बहुत-सी दलबंदियां होने से खर्च अत्याधिक बढ़ता जाता है। चाहे कोई मरे या विवाह करे गुजरात में दोनों अवसरों पर बरात को भोजन कराना होता है। एक का मरना और दूसरों का पेट भरना, इस से बढ़ कर और क्या पागलपन हो सकता है। इन बिरादरियों के झगड़ों और अन्य कारणों से युद्ध में कैसी कैसी रुकावटें पेश होती रही हैं। इस के लिए एक उदाहरण कहता हूँ,

सुनने योग्य है। हरिसिंह नलुआ रणजीतसिंह का एक सरदार था। उस ने काबुल कंधार तक चढ़ाई की और बहुत सा प्रदेश जीत लिया। मुसलमानों ने यह समझ कर कि हिंदू शत्रु हैं, हिंदुओं का सारा पका हुआ भोजन रोक लिया। दोपहर तक जब कुछ न मिला तब हरिसिंह के सैन्य भूख से घबराने लगे। सब मिलकर अपने सरदार के पास गए। उसने उलट तजवीज़ निकाली। सैन्यों को आज्ञा दी कि मुसलमानों का सब भोजन इकट्ठा करो। यह सुनते ही सिक्खों ने धावा बोल दिया। और जो खाना मुसलमानों ने तैयार किया था वह सब लूट कर हरिसिंह के सामने ढेर लगा दिया। हरिसिंह ने आदेश किया—सूअर का एक दाँत ले आओ। वे दाँत लाए। हरिसिंह ने उसे ढेर की चहुँ ओर फेर दिया। तत्पश्चात् सैनिकों से कहा कि अब यह भोजन शुद्ध हो गया है इसे सब हिन्दू खा सकते हैं। इसके पश्चात् उसमें से थोड़ा सा भोजन आप खाया। सैनिकों ने भी अपने पेट भर लिए। विचार करो, क्या चौके के बखेड़े में पड़ कर तुम अपना धर्म क़ायम रख सकते हो?

—:0:—

जाति की आत्मा

संक्षेप से मैंने पिछले अध्याय में स्वामी दयानन्द का जीवन-चरित दिया है। वह यह दर्शाने के लिए कि स्वामी दयानन्द के मन में आर्यसमाज के आँदोलन का विचार शनैः शनैः कैसे उत्पन्न हुआ। मैं ने स्वामी दयानन्द के व्याख्यानों को संक्षेप में इसलिए दिया है ताकि यह मालुम हो सके कि स्वामी दयानन्द के हृदय में देश और जाति सम्बन्धी कैसे कैसे विचार आते थे। इन सब का अध्ययन करने के बाद इस बात को जताना आवश्यक प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द के सब कामों के अन्तस्तल में एक ही भाव काम करता था। इसे वह आप लिखते हैं—"आर्यावर्त्त की उन्नति के लिए मुझ जैसे बहुत से उपदेशकों की आवश्यकता है"। आर्यावर्त्त की उन्नति उद्देश्य है और वे स्वयं उस को पूर्ण करने के लिए उद्यत होते हैं। लोग कहते हैं कि आर्य-समाज स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में पाई जाती है। इसलिए जो मनुष्य सत्यार्थप्रकाश को नहीं मानता वह आर्यसमाजी नहीं हो सकता। एक और विचार है कि आर्यसमाज उस के दस नियमों में है। खाली दस नियमों के फ़ार्म पर हस्ताक्षर करना आर्यसमाज का सदस्य होने के लिए पर्याप्त है। निस्सन्देह आर्यसमाज को हम सत्यार्थप्रकाश में भी देख सकते हैं। और दस नियमों में भी। स्वामी जी

के चरित्र में भी आर्यसमाज का नक्शा दिखाई पड़ता है। परन्तु मैं समझता हूँ कि इन सबसे अधिक आर्यसमाज उस उद्देश्य का नाम है, जो स्वामी दयानन्द की आत्मा में काम करता था और जिस को अपने सामने रखकर स्वामी जी ने यह सब कुछ किया—आर्यसमाजें बनाईं, नियम बनाए, पुस्तकें लिखीं और स्थान स्थान पर घूमकर व्याख्यान दिए। वह उद्देश उन्होंने अपने गुरु स्वामी विरजानन्द से दीक्षा में प्राप्त किया था। वह उद्देश वही है, जो ब्रह्मा से लेकर जैमिनी तक सब ऋषियों का चला आया है—इस जाति की आत्मा की रक्षा की जाए। जाति की आत्मा क्या है?

यह लोकोक्ति सभी जानते हैं कि देश और काल ही महापुरुषों को जन्म देते हैं। जनसाधारण इस का अर्थ यह समझते हैं कि जब किसी देश विशेष में विशेष परिस्थिति होती है और ऐसी आवश्यकता प्रतीत होती है कि कोई महापुरुष उत्पन्न हो; तब कोई न कोई मनुष्य उत्पन्न होता है, जो उस आवश्यकता को पूर्ण करता है। मैं समझता हूँ कि यह नियम केवल महापुरुषों के ही लिए ठीक नहीं प्रत्युत बात यह कि जगत् में प्रत्येक मनुष्य परिस्थिति की ही उपज होता है। मनुष्य रूपी मिट्टी को समाज रूपी कुम्हार विशेष रूप देता है। एक बच्चा जापान में उत्पन्न होता है। जापानी समाज के अन्दर रहकर वह फलता फूलता है। उसकी भाषा, पहनावा आन्तरिक भाव-प्रेम, घृणा आदि सब जापानी होते हैं।

जर्मनी में पैदा होकर मनुष्य जर्मन देश और जाति के लिए जीना और मरना अपना धर्म समझता है। इंगलैण्ड में जन्म लेकर उसके सब विचार अंगरेज़ जाति के होते हैं।

किसी धीमान मनुष्य से पूछिए तो वह कहेगा कि मैं एक स्वतन्त्र व्यक्ति हूँ। मैं जो कुछ करता हूँ सोच विचारकर अपनी बुद्धि के अनुसार करता हूँ। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि हमारी यह स्वतन्त्रता उस जाल के समान है, जिस के तंतुओं से परे हम जा नहीं सकते। हम स्वतन्त्र ज़रूर हैं। परन्तु हम सब कुछ अपनी बुद्धि और आत्मा के अनुकूल करते हैं और हमारी यह बुद्धि और आत्मा हमारे समाज के साँचे में ढली है। जापानी की आत्मा उसे यही बताती है कि जापान ही सबसे पवित्र देश है। उस से प्रेम करना तुम्हारा परम धर्म है।

धार्मिक लोग मानते हैं कि उनके पैग़म्बरों को ख़ुदा की तरफ़ से इलहाम (देववाणी) होता है। परन्तु यह पैग़म्बर क्या होता है? बुद्ध क्या था? क्या बुद्ध भारत को छोड़ किसी अन्य देश में उत्पन्न हो सकता था? नहीं! बुद्ध के जन्म के लिए वह तर्क, वह तप और वे साधन आवश्यक थे, जिन्हों ने राजकुमार गौतम के दिल में अद्भुत विचार उत्पन्न किए। उन सब संशयों का हल, जो महात्मा बुद्ध ने जगत् को पेश किया, केवल हिन्दू के मस्तिष्क का परिणाम हो सकता था। तब संसार की सभी दूसरी जातिएं अभी अन्य क्षेत्रों में अपनी

दौड़ दौड़ रही थीं। एक महान् धर्म का विचार, जिस में ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं, जिसमें मनुष्य कर्म के नियमों को ही संसार में काम करता देखता है, काशी की उर्वरा भूमि में ही उत्पन्न हो सकता है, अन्यत्र नहीं।!

मसीह खुदा का बेटा था (!)। परन्तु जो कुछ उसने कहा या किया वह यहूदी जाति को प्रकट करता है। उसका उद्देश्य यहूदियों की उन्नति था। उसकी सारी शिक्षा यहूदी कवियों की शिक्षा है। मसीह के कहे या लिखे हुए को देखकर हम झट कह सकते हैं कि वह यहूदी जाति का एक बच्चा था। हज़रत मुहम्मद ने जो कुछ किया अरबी भाषा में किया। उनकी सारी घटनाएं अरबी लोगों से सम्बन्ध रखती हैं। उनके प्रश्नोत्तर, वाद-विवाद, लड़ाई-झगड़े सब अरबी लोगों के लिए थे। मुहम्मद साहब और उनकी पुस्तक सभी ओर से अरबी हैं।

कहने को यों कहा जाता है कि अमुक मनुष्य ईश्वर या ईश्वर का पुत्र था। परन्तु हम जानते हैं कि वे जो कुछ थे, सब अपने अपने देश, जाति और समाज का फल थे। यदि उन के देश, जाति और समाज अन्य होते तो कभी भी वे ऐसे न होते जैसे कि हुए हैं। हरएक भूमि और जलवायु के अपने अपने फल होते हैं। जो सेब कश्मीर में होता है वह किसी अन्य जगह नहीं होता। जो अंगूर चमन में मिलता है वह किसी अन्य जगह नहीं मिलता। आम भारत का खास मेवा है। यदि किसी जगह चावल अच्छे

होते हैं तो किसी जगह गेहूं। किसी जगह मक्की अच्छी होती है तो किसी जगह चने। कहीं रंग बिरंगे फूल होते हैं तो कहीं सुगन्धित फूल। प्रत्येक भूमि में अपनी अपनी विशेषता होती है। ऐसे ही प्रत्येक जाति में भी अपनी विशेषता होती है। अपनी विशेषता के अनुसार ही उस जाति में विचार करनेवाले, लिखनेवाले, लड़नेवाले और क़ुर्बानी करनेवाले उत्पन्न होते हैं। हमारे लिए राम जो पद रखता है, अमरीकनों के लिए वह वाशिंगटन रखता है। हिन्दू जो पद कालिदास को देते हैं। अंगरेज़ वही शेक्सपीयर को देते हैं। कृष्ण हमारा जातीय वीर है, माज़िनी इटली का। नेपोलियन फ्रांस का वीरयोद्धा था, वेलिंगटन इंगलैण्ड का। प्रत्येक देश और उस के जलवायु ने अपने लिए ख़ास पुरुष जन्मे हैं। भूमि के पुरानी हो जाने से, उसे खाद या पानी न मिलने से या उसमें अत्यधिक काश्त होने से उस की उपजने की शक्ति कम होती जाती है। इसी प्रकार जाति में से विशेष पुरुष, कौशल और गुण उत्पन्न करने की शक्ति परिस्थिति के बदलने पर कम या गुम होती जाती है। जाति में से इस उपज की शक्ति का लोप हो जाना उस की मृत्यु है।

भूमि के लिए उपजने की शक्ति उस की आत्मा है। जाति के लिए अपने कलाकौशल के पैदा करने की शक्ति ही उस की आत्मा है। इसे उस की सभ्यता कहा जा सकता है। इसी प्रश्न को हम एक अन्य दृष्टि से लेते हैं। एक मनुष्य

कहता है—मुझे जाति से क्या ? मैं अपनी आत्मा और जीवन को सब से पृथक् अनुभव करता हूँ! मुझे जातीयता से क्या मतलब? मुझे तो जाति की आत्मा कहीं नहीं दिखाई देती! जो मनुष्य इतना गँवार है कि केवल अपने शरीर को ही 'मैं' समझता है, वह ज़रूर ऐसा कह सकता है कि हमारा जीवन केवल शरीर के होने में ही है। शरीर तो केवल जीवन को क़ायम रखने का एक साधन है। परन्तु हम अपने जीवन को सैकड़ों अन्य बातों में लगाते हैं। इस का बड़ा भाग बातें करने और सुनने में जाता है। और ये बातें उन विशेष विषयों पर होती हैं, हमारे समाज से जिन का घनिष्ट सम्बन्ध है। हम शेष भाग को अपने कारबार में लगाते हैं। हमारे सब कारबार इसी कारण बने हैं कि हम एक विशेष समाज में रहते हैं। हमारी सारी शिक्षा, भाषा और साहित्य, दर्शन और इतिहास सब का उद्भव इसी से है। हमारी समाज ने एक ख़ास दर्जे तक उन्नति की है। उस में वे मनुष्य उत्पन्न हुए हैं, जिन्हों ने हमारे साहित्य को बनाया। हमारी समाज हमारी जाति का एक भाग है। जाति की उन्नति के बिना समाज का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। समाज के बिना एक मनुष्य कोई अस्तित्व नहीं रखता। केवल शरीर को जीवन समझने का अनुमान ठीक उस समय लगाया जा सकता है जब एक शिशु को पैदा होते ही किसी बन में छोड़ दिया जाय, जहां उसे

अन्य मनुष्यों से मिलने का अवसर प्राप्त न हो। सम्भवतः उस का शरीर फले फूले और वह देर तक जीता रहे, परन्तु उसका जीवन मनुष्य-जीवन की बजाए केवल पशु-जीवन होगा।

आरम्भ से लेकर आज तक की सामाजिक उन्नति ने हमें अपना जीवन उन्नत करने के योग्य बनाया है। जो कुछ हम आज हैं, उसका कारण यह है कि हम उस एक जाति जन्मे हैं, जो सहस्रों वर्षों से जीवित चली आती है, और जिस ने इस काल में सहस्रों ऋषि मुनि उत्पन्न किए, वेद-शास्त्र के रचयिता उत्पन्न किए, हमारे लिए राम और कृष्ण से वीर और सीता सावित्री सी विदुषी स्त्रियां उत्पन्न कीं। यदि हमारी जाति में सीता या सावित्री न होतीं या उनकी कथा लिखनेवाले वाल्मीकि जैसे ऋषि न होते तो आज हमारी स्त्रियों को स्त्री-धर्म का कुछ ज्ञान ही न होता। जो कुछ हम पर बीत चुका है, जो कुछ हम ने चिन्तन किया है, हमारे पूर्वजों ने जो कारनामे किए हैं और जो कुछ उन्होंने लिखा है, वे सब मिलकर हमारी जातीयता बनती है। उस जातीयता की उन्नति का फल हमारे साहित्य रूपी कोष में भरा है। यह साहित्य हमारी सभ्यता है। यही हमारी सम्पत्ति है, जो हमें एक जाति बनाती है। जिस जाति के पास कोई सम्पत्ति नहीं वह दिवालिया होती है और जल्द ही चल बसती है। जातियों के युद्ध, क्रान्तियां और वीरता ही

चिरकाल तक उनके अन्दर जीवन डालने का काम करती हैं। पञ्जाब में सिक्खों की क़ुर्बानियां देख कर जनता चकित हो जाती है। लोग यह नहीं जानते कि सिक्खों की पिछले दो सौ वर्षों की कहानियाँ और इतिहास उन्हें जीवनप्रदायी इंजन का काम दे रही हैं। यह इंजन हटा दो, उनकी स्टीम (भाप) निकल जायगी। बाक़ी का कारखाना भी चलने से रह जायगा।

'हितोपदेश' में एक चूहे की कहानी है। एक साधु किसी दूसरे साधु के हां अतिथि बन कर गया। रात को वह अपनी आत्मकथा सुनाने लगा। परन्तु सुननेवाले का कुछ भी ध्यान उधर न था। उसने पूछा—'क्या बात है! तुम्हारा मन किधर है?' दूसरे ने उत्तर दिया—'मेरा ध्यान एक चूहे की ओर है। मैं अपना माँगा हुआ भोजन छत के साथ एक छिके में रखता हूँ, और वह चूहा प्रतिदिन उसे खा जाता है।' पहले ने पूछा—'वह छिका ज़मीन से कितना ऊँचा है?' दूसरे ने उत्तर दिया—'कोई तीन गज़!' पहला साधु हैरान हुआ कि चूहा इतना कैसे कूद सकता है। उसने सोचा कि इसका कोई और कारण होगा। उसने अपने साधु भाई को चूहे की बिल खोदने के लिए कहा। ऐसा करने पर उसमें से अशरफ़ियों की एक थैली निकली। उनने वह थैली निकाल ली। चूहे ने जब अपनी बिल देखी तो उसकी कमर टूट गई और उसका सारा बल जाता रहा। तब से उसका कूदना बन्द

हो गया। इसी प्रकार जातियों को कुदने की शक्ति के लिए पीछे कोई कोष होना चाहिए। वह उसकी कथाएं और साहित्य होता है।

—o—

धर्म क्या है ?

कहा जाता है कि जब इस देश में बौद्धों का ज़ोर होगया, तब वेद को कोई पूछता न था : आर्यावर्त्त में ही वे रौंदे जा रहे थे। एक बार एक राजकुमारी अपने राजप्रसाद पर यह कह रही थी—'क्या करूँ ? किधर जाऊँ ? कौन वेद की रक्षा करेगा ?' यह आवाज़ एक ब्राह्मण कुमारलभट्ट के कर्ण-गोचर होगई। उसने उत्तर दिया—हे राजपुत्री, तू मत रो ! तुम क्यों चिन्ता करती हो जब कि कुमारलभट्ट अभी जीवित है ?

कुमारलभट्टाचार्य ने बौद्धों के पास जाकर उनकी धर्म-पुस्तकों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। अर्थात् उनको गुरु इसलिए बनाया कि बाद में उनके धर्म का खण्डन करे। अपना जीवन उसने इसी काम में व्यतीत किया। परन्तु उसके हृदय में यह विचार काँटे की तरह खटकता था कि उसने गुरु के विरुद्ध एक पाप किया है, जिसे उसको अपनी आत्मा से धो देना चाहिए। उसने प्रायश्चित करने के

लिए तख्तुओं के छिलकों की चिता तैयार की और उसमें बैठकर स्वयं उसे आग लगा दी। कुमारिल ने अपने शरीर को इसलिए जला दिया कि उसकी आत्मा पाप के मल से छूट जाय।

इस महापुरुष के सामने एक उद्देश्य था। उसे पूर्ण करने के लिये उसने अपने प्राण दे दिए। मैं तो समझता हूँ कि राजकुमारी भारतमाता ही थी, जिसकी पुकार कुमारिल-भट्ट ने सुनी। यह वही आवाज़ थी जिसकी गूँज स्वामी दयानन्द के कानों में पड़ी। यद्यपि इन दो महापुरुषों के बीच का फ़ासला एक हज़ार वर्ष से ऊपर है, तो भी दोनों का उद्देश एक ही था। एक परिस्थित में जिस कार्य को कुमारिला-चार्य ने करने का बीड़ा उठाया, दूसरी परिस्थिति में उस ही स्वामी दयानन्द ने अपने ज़िम्मे लिया। यही उद्देश्य इस जाति की आत्मा है।

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि इस का धर्म से क्या सम्बन्ध है।

मनु ने कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः

रक्षित धर्म रक्षा करता है और मारा हुआ धर्म मार देता है। इसलिए धर्म को कभी नहीं मारना चाहिए। जैसे यह नियम हमारी व्यक्तिगत अवस्थिति में दुरुस्त है, ऐसे ही जाति की अवस्थिति में भी ठीक है। जो जाति अपने धर्म

को छोड़ देती है, वह अपनी मृत्यु का आह्वान करती है। जाति का धर्म ही है जो उसे जीवित रखता है। इसी में उस का जीवन है। परन्तु धर्म क्या है? इस की परिभाषा करना एक बड़ी पहेली हल करना है। निश्चय धर्म मज़हब नहीं है। हिन्दू एक धर्म का नाम तो हो सकता है परन्तु यह किसी मज़हब का नाम नहीं है। वे भारी भूल करते हैं, जो 'मज़हब' को अपने सामने रख कर 'हिन्दू' शब्द की परिभाषा ढूंढते हैं। मज़हब का अर्थ कुछ विशेष सिद्धान्त होते हैं, जो उस के प्रवर्त्तक के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इन सिद्धान्तों पर विश्वास करना उस के अनुयायियों को एक विशेष क्रम में बाँध देता है। यही पाबन्दी उन का मज़हब कहलाता है। हिन्दुओं के अन्दर भी ऐसे ही कई मत मतान्तर हैं। स्वामी दयानन्द ने जिस को इन मतामतान्तरों के झगड़ों से हटा कर, हिन्दुओं को ही नहीं प्रत्युत सब मनुष्यों को एक करने के लिए स्थापित किया था, वह आर्यसमाज स्वयं एक ऐसा ही मत बनता हुआ दिखाई देता है। हिन्दू धर्म में विशेषता ही यही है कि वह एक मज़हब नहीं है। धर्म को किसी एक मत जैसा बनाना व्यर्थ चेष्टा होगी। महाभारत में इसी प्रश्न को उठाया गया है। उस में इस का उत्तर बड़ी उदारता से दिया है। 'वेदों का मत और है, स्मृतियों का और। कोई ऐसा मुनि नहीं, जिस का अपना विशेष मत न हो। धर्म का गूढ़ तत्त्व छिपा हुआ है। केवल इतना कहा जा सकता है कि मार्ग

वही है, जिस पर महापुरुष चलते रहे हैं।' धर्म की परिभाषा एक रहस्य बताती है। सम्भवतः कणाद ऋषि की परिभाषा सब से उत्तम है—"यतोऽभ्युदय निःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः" अर्थात् 'जिस से लोक और परलोक दोनों की सिद्धि हो वही धर्म है'। परिभाषा तो ठीक है परन्तु उस मार्ग का पता कैसे लगे जिस पर चलने से मनुष्य अपने उद्देश को प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य इसे समझ नहीं सकता इसी लिए महाभारत में कहा है कि बस, देवजनों के मार्ग पर चलते जाओ। धर्म एक ऐसा बड़ा शब्द है कि इस की एक परिभाषा करना कठिन है। इस लिए यह आवश्यक है कि उसको खण्ड करके उसे समझने का प्रयत्न किया जाय।

पहला खंड तो विश्वास है। विश्वास निस्सन्देह धर्म का एक अंग है। मनुष्य का स्वभाव ऐसा निर्बल है कि वह अपने कर्त्तव्यों के लिए अपना सारा विश्वास उस व्यक्ति पर छोड़ देता है, जिसे वह अपना गुरु या नेता मानता है। मनुष्य को अपने लिए कार्यप्रणाली निश्चित करना कठिन प्रतीत होता है। वह चाहता है कि उसे कोई ऐसा मनुष्य मिल जाय, जिसे वह सदा के लिए अपना पथप्रदर्शक बना ले। निनानवे प्रतिशत मनुष्यों को अगुवाई की ज़रूरत रहती है। उनका मस्तिष्क इतना उन्नत नहीं होता कि वे सोचकर कोई निर्णय कर सकें। गुरु या नेता मनुष्य की इस निर्बलता को भली भांति जानते हैं। ताकि वे अपनी

स्थिति को मज़बूत बना सकें वे भी एक विशेष गर्व रखते हैं, और अपने पिछलगों को यह बताते हैं कि प्रत्येक मामले में उन के पीछे चलने में ही उनका हित है। इर्दगिर्द की परिस्थिति भी उन की सहायता करती है। नतीजा यह होता है कि उन के नेतृत्व (पथ-प्रदर्शकता) से एक नया मत या मज़हब क़ायम हो जाता है। साधारण और धार्मिक (मज़हबी) पथप्रदर्शक में अन्तर होता है। पहले अपने अनुयायियों को प्रत्येक मामले में सोचने की पूर्ण स्वतन्त्रता देता है, दूसरा अपने भक्तों को विशेष बातों में उपरोक्त स्वतन्त्रता नहीं देता।

यद्यपि मतों और धर्मों के प्रसार से संसार में कितने ही अन्याय और अत्याचार हुए, फिर भी दुनिया धर्म (मज़हब) का वैसा ही आदर करती है ; फिर भी लोग अपने अपने धर्म के लिए सब कुछ क़ुर्बान करने के लिए तैयार पाए जाते हैं। इस बात से प्रकट होता है कि मनुष्य को अभी मत स्वातन्त्र्य की कोई परवा नहीं और वह केवल उन्हीं यथार्थ या अयथार्थ नियमों को यथार्थ मानता है जो उसे बचपन में सिखाए गए थे। मनुष्य अपने जन्म के धर्म या विचारों से उसी प्रकार प्यार करने लग जाता है जैसे कि अपनी समाज या मातृ-भूमि से।

मत के मानने में एक ख़ास ख़ूबी भी पाई जाती है। विश्वास से जो श्रद्धा या भक्ति उत्पन्न होती है वह विचार

या तर्क से नहीं होती। मनुष्य के मत कुछ विशेष बातों को उसके अन्दर ऐसे रूप में गाड़ देता है कि वह उनको ही सत्य मान कर उन के लिए सब कुछ .कुर्बान कर सकता है मनुष्य-स्वभाव का यह उज्ज्वल पक्ष है कि वह जिसे सत्य समझता और मानता है, उसी के लिए सब कुछ त्याग देने पर तैयार हो जाता है। यदि मज़हब न होते तो मनुष्य-स्वभाव का यह पक्ष कभी उन्नति न करता। मनुष्य में इस गुणका, जो मज़हब द्वारा उत्पन्न हुआ है, स्थिर रखना एक अच्छी बात है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि जिसे धार्मिक लोग सत्य समझते हैं, वह वास्तव में ही सत्य होता है। वे बातें यथार्थ हों या न हों अनुगामियों के लिए इतना पर्याप्त है कि उनके मन को वह यथार्थ प्रतीत होती हैं! इन मनुष्यों की मानसिक अवस्था का अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि वे पृथ्वी को चिपटी ही मानेंगे, और जो इसके विरुद्ध कहेगा वे उसका सिर फोड़ने पर तयार हो जायंगे। संसार में जब तक मनुष्यों की मानसिक अवस्था ऐसी रहेगी मज़हब और उसके चालकों की आवश्यकता पूर्ववत बनी रहेगी।

क्या संसार में कोई मज़हब सच्चा नहीं है? सच तो यह है कि एक अर्थ में संसार का कोई मज़हब सच्चा नहीं है। और एक अर्थ में सभी मज़हब सच्चे हैं। जो मज़हब जिस मनुष्य को सच्चा प्रतीत होता है, उसके लिए वही सच्चा है।

यह जो कहा जाता है कि 'सत्यमेव जयते नानृतं'—सत्य ही की जय होती है झूठ की नहीं, इसका यह अर्थ है कि जो अधिक मनुष्यों या अधिक बलवान् मनुष्यों को सच्चा मालूम होता है, उसकी विजय होती है। वास्तव में 'सत्य' क्या है, इसके जानने और निर्णय करने का साधन मनुष्य की बुद्धि ही है। जिस की बुद्धि जैसी होती है, उसे वैसा ही सत्य मालूम होता है। इसीलिए गायत्रीमन्त्र में प्रार्थना की है कि हमारी बुद्धि विवेक... ...हो, सत्य असत्य का निर्णय जिस के हाथ में है यथार्थ बात तो दार्शनिक ही जानते हैं। गँवार उन को ख्याल में भी नहीं ला सकते। परन्तु संसार में अधिक संख्या गँवारों की है। शक्ति उन गँवारों के नेताओं के हाथ में है, इसलिए विजय भी उन्हीं की होती है। सच का केवल मन से ही सम्बन्ध नहीं, सच में शक्ति तो तब आती है, जब कि उसके प्रचार करने के लिए भाषा हो और उस भाषा में शक्ति हो। न सिर्फ़ यह, प्रत्युत इस सच पर चलनेवाले और चलानेवाले हाथ हों, और वे हाथ बलवान् हों। जो सच न वचन में आता है और न कर्म में, वह हीन है। उस के जीने की भी आशा नहीं की जा सकती।

मुसलमानों के सच में अधिक शक्ति है। वास्तविक जाँच से हम उन की धार्मिक पुस्तक या उन के प्रवर्तक में सैकड़ों दुर्गुण और भूलें बता दें, किन्तु केवल बुद्धि ही उन

के सच्च या झूठ का निर्णय नहीं कर सकती। इस सच को बताने वाले, पढ़ानेवाले, चलानेवाले अधिक हैं या नहीं ? कौन-सा मुसलमान है, जिस के घर में उन की धर्म-पुस्तक पाई नहीं जाती ? उन के बच्चों में से कोई ही ऐसा होगा, जो उसे सीखने या पढ़ने के लिए मसजिद में न जाता हो। पञ्जाब के हिन्दुओं में सब से बढ़ कर जीवन रखनेवाली संस्था आर्यसमाज समझी जाती है। आर्यसमाज को देखिए। यदि आज कोई मनुष्य यह कहने का साहस करे कि मुझ को वेद के ईश्वरीय होने में सन्देह है तो उस का नाम सदस्यों के रजिस्टर से काट दिया जायगा। ऐसा कहने में सिद्धान्त की निर्बलता पाई जाती है। आर्यसमाजियों का विचार है कि सिद्धान्तों के निर्बल हो जाने से आर्यसमाज निर्बल हो जायगी। यदि यथार्थ में ऐसा है तो आर्यसमाज एक मत का प्रचार करता है। परन्तु आगे देखिए। नियमों में लिखा है—'वेद का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना हमारा परम धर्म है।' आधे शतक में आर्यसमाज ने कितने ऐसे आर्यसमाजी उत्पन्न किए हैं, जिन्हों ने वेद सुने या पढ़े या जिन्होंने ऐसा करने का सिर्फ़ यत्न ही किया ? कितने ऐसे हैं, जिन्हों ने अपनी सन्तान को वेद पढ़ाने का प्रबन्ध किया ?

वेद को मानना एक बात है। वेद-पुस्तक घर में रखना और बात है। वेद का स्वाध्याय करना और बात है। वेद में कही बातों पर, आचरण करना दूसरी बात है। मैं तो

समझता हूँ कि यदि एक मनभर 'विश्वास' तराजू के एक पलड़े में हो और एक रत्ती भर 'आचरण' दूसरे में तो आचरणवाला पलड़ा नीचे झुकेगा। उदाहरणतया वेद में कहा है—'हम इकट्ठे बैठें, हमारा चित्त एक हो, हमारे विचार एक हों'। कुछ लोग केवल इसे मानते ही हैं और इसे वेद वाक्य समझकर इसका आदर करते हैं। परन्तु कभी एक स्थान पर इकट्ठे नहीं होते। इन के मुक़ाबले पर अन्य मनुष्य हैं, जो यह नहीं जानते हैं कि यह वेद का वाक्य है या किसी अन्य पुस्तक का, परन्तु इस पर आचरण करते हैं। आचरण करनेवाले संसार में उन्नति करेंगे। केवल मानने और बातें करनेवाले नीचे गिरते जायेंगे। आर्यसमाज ने कालेज बनाए, स्कूल बनाए। उसने अपना सारा एकत्रित धन इन पर खर्च कर दिया। ये ऐसी संस्थाएं हैं, जो आर्यसमाजियों और उन के बच्चों को आर्यसमाज से परे फेंकती हैं, उन के मन में वेद से, संस्कृत से और हिन्दीभाषा से घृणा उत्पन्न करती हैं, और अंगरेज़ी साहित्य और भाषा पर मोहित कर देती हैं। मैं समझता हूँ कि आर्यसमाज को जीवित करने का, उपाय एक ही है कि प्रत्येक आर्यसमाजी अपने सिद्धांत पर आचरण करने का प्रण करे और अपनी संतान को चौदह या पन्द्रह वर्ष तक केवल अपने धर्म और वेदशास्त्र की शिक्षा दिलावे। सब आर्यसमाजें इस शिक्षा का प्रबन्ध करें और उस आर्यसमाजी को सभा से निकाल दें, जो अपने

बच्चों को अन्य शिक्षा दें। वेद ईश्वरीय हों या न हों, क्योंकि यह कैसे मालूम हो कि चार ऋषियों ने जो कुछ ज्ञान बताया, उन की आत्मा में वह स्वयं उत्पन्न हुआ या परमात्मा की ओर से हुआ। जो ज्ञान अब भी मिलता है, वह परमात्मा की कृपा से मिलता है। परन्तु इस में तो कुछ सन्देह नहीं कि परमात्मा ने वेद ज्ञान इसी जाति को दिया है। और इसी जाति का यह उद्देश्य है कि उस की रक्षा करे और संसार में उसका प्रसार करे।

पचास वर्ष पर्यन्त आर्यसमाज ने वेद की ओर कुछ ध्यान नहीं किया। कांगड़ी में एक गुरुकुल अवश्य बनाया परन्तु आर्यसमाजियों के अन्दर उस के लिए श्रद्धा नहीं है॥ यदि होती तो इस समय सैकड़ों गुरुकुल होते और सब आर्यसमाजियों के लड़के लड़कियां उस में पढ़ रहे होते। जब यह कहा जाता है कि इस से इज्ज़त की रोटी नहीं मिलती तो उस का अर्थ ही यह है कि हम ब्राह्मणों की तरह रोटी खाने में इज्ज़त ही नहीं समझते प्रत्युत सरकारी शिक्षा और नौकरी में अपनी और अपनी सन्तान की इज्ज़त समझते हैं। धर्म और परमात्मा के मार्ग को छोड़ कर दूसरा रास्ता दुनिया की गुलामी है। मैं इसे माया-पूजन कहता हूँ, रुपए और शक्ति की पूजा कहता हूँ। कृष्ण या राम की मूर्त्ति बना कर पूजा करना पाप नहीं है, पाप परमात्मा को छोड़ कर माया-पूजन में है। मूर्त्ति-पूजा का खण्डन

तब करना चाहिए जब पहले अपने अन्दर से माया-पूजन निकल चुका हो।

—o—

साधारण धर्म

मनुष्य-समाज एक बड़ी भारी मैशीन है, जिस में मनुष्य और भिन्न भिन्न श्रेणियां पुर्ज़े हैं। यदि पुर्ज़े ठीक और मज़बूत न हों तो मैशीन काम नहीं कर सकती। मैशीन के चलाने के लिए पुर्ज़े टूटे हुए न होने चाहिए। एक कमज़ोर या टूटा हुआ पुर्ज़ा सारी मैशीन को काम करने से रोक देता है। इस में कुछ सन्देह नहीं कि पुर्ज़ों की सहायता के बिना मैशीन कुछ चीज़ नहीं, किन्तु साथ यह भी समझ लेना चाहिए, कि अकेले पुर्ज़े या मैशीन के भिन्न भिन्न हिस्से भी कुछ हक़ीक़त नहीं रखते। वे अकेले कर ही क्या सकते हैं? अकेले दुरुस्त और मज़बूत होने का लाभ ही क्या है? काम तो तब ही होगा जब सारी मैशीन सुस्थित हो कर चलती हो? और केवल इसी अवस्था में मैशीन के अस्तित्व तथा उसके पुर्ज़ों के अस्तित्व का लाभ हो सकता है।

मनुष्य के शरीर में सैंकड़ों हज़ारों अंग मिलकर जब अपना अपना काम करते हैं तब शरीर चलता है। शरीर के एक छोटे से अंग को कष्ट होता है, शरीर की सारी

मैशीन अस्वस्थ हो जाती है : वह काम करना बन्द कर देता है। शरीर के काम करने के लिए सभी पुर्ज़े आवश्यक हैं। परन्तु कोई अकेला अंग कैसा ही अच्छा और काम करनेवाला क्यों न हो शरीर को आगे या पीछे नहीं ले जा सकता। एक उँगली कैसी ही मज़बूत क्यों न हो, उस की मोटाई या मज़बूती शरीर को मज़बूत या सुडौल नहीं बना सकती। इसी प्रकार मनुष्य-समाज में प्रत्येक सदस्य का अपने पद पर योग्य और बलवान् होना आवश्यक है ताकि समाजरूपी मैशीन के लिए योग्य होकर वह अपना काम निभा सके। परन्तु मुख्य वस्तु मैशीन है, मनुष्य गौण है। प्रत्येक मनुष्य के दो पृथक् पृथक् धर्म हो जाते हैं—एक अपने आप को क़ायम रखना दूसरा अपनी समाज को क़ायम रखना। इन दोनों के नाम हैं—व्यक्ति-धर्म या साधारण धर्म और जातीय धर्म। साधारण धर्म सब अच्छे हैं। उन के द्वारा मनुष्य की योग्यता बढ़ती है। परन्तु यदि मनुष्य इस योग्यता को जाति-धर्म के अनुसार उपयोग में नहीं लाता तो यह किसी काम की नहीं होती। यहां पर मनुष्य के जातीय धर्म मुख्य हैं और साधारण धर्म गौण।

बौद्ध-मत ने कई नई बातें निकालीं। उन में से समता और सदाचार पर ज़ोर देना बहुत अच्छी थीं। परन्तु बौद्ध-मत की कई बातों ने हिन्दुओं पर बहुत बुरा प्रभाव डाला। पहले तो बुद्ध-मत एक तरह से संसार में पहला मत था,

जिस ने एक व्यक्ति के नाम पर लोगों को अनुयायी बनाना आरम्भ किया। इस से पूर्व प्रॉसिलेटाइज़िंग मत (परधर्म में स्वधर्म-प्रचारक) कोई नहीं हुआ। बुद्ध के पश्चात् उस के प्रभाव से मसीह ने अपना धर्म (मज़हब) चलाया। मसीह का अनुकरण इस्लाम ने किया। मत का इस विशेष प्रणाली पर प्रचार करना संसार में एक नई बुराई थी, जिसका उत्तर-दायी बुद्ध है। क्योंकि बुद्ध-मत का ईश्वर पर विश्वास न था, वह महापुरुषों को ईश्वर-पद देता था। इसलिए उन्होंने महापुरुषों की मूर्त्तियां बनाकर उनका पूजन आरम्भ किया और मूर्त्तिपूजा जारी हुई। भारतवर्ष के पिछले इतिहास और कथाओं से बुद्ध-मत ने अपने आप को पृथक् कर लिया। इस ने अधिकार के सिद्धान्त को परे फेंककर सब लोगों के लिए त्याग और अहिंसा का प्रचार किया। इस जाति में पतन का बीज बो दिया। मेरे ख़याल में इन सब से बढ़कर जो बात बुद्ध-मत ने फैलाई वह जातीय धर्म को मिटाकर केवल व्यक्ति-धर्म पर ही ज़ोर देना था।

जहां बुद्ध के अहिंसा और त्याग के सिद्धान्तों ने अभी तक हिन्दुओं के दिल को जीता हुआ है, वहां मैं समझता हूँ कि हमारा मुक्ति का आदर्श भी बुद्ध-मत के निर्वाण का प्रभाव चला आता है। मुक्ति और निर्वाण में बहुत कम अन्तर है। दोनों का मनुष्य-समाज से कुछ सम्बन्ध नहीं। दोनों अकेले मनुष्य को यही सिखाते हैं कि वह अपने हित

को उद्देश्य ठहराकर उस के लिए ही प्रयत्न करे। हमारा मुक्ति-विचार स्वार्थ की जड़ है। सामाजिक धर्म या जातीय धर्म के विरुद्ध होने से इसी ने उसे नष्ट कर दिया है। महात्मा बुद्ध ने देखा कि वर्णाश्रम में बहुत दोष आ गए हैं। उस ने वर्णाश्रम को अपने मत से निकाल दिया और उसके स्थान पर सब स्त्री पुरुष के लिए निर्वाण का उपदेश किया। वर्णाश्रम के निकल जाने से जाति में से सामाजिक धर्म—अर्थात् जातीय धर्म नष्ट हो गया। इस धर्म को नष्ट कर के यह जाति कब तक जीवित रह सकती थी? मनुष्यों के लिए समता-भाव अच्छा हो परन्तु जब जाति से जातीय धर्म मिट गया तब उस की मृत्यु भी निकट आ गई।

निर्वाण क्या है? बुद्ध-मत कहता है कि प्रत्येक मनुष्य को निर्वाण प्राप्त करना चाहिए। निर्वाण का साधन विषय-वासना को मारना है। सर्वोच्च मनुष्य वह है, जिस ने अपनी इच्छाओं को मार दिया हो। वही मनुष्य बुद्ध या ईश्वर के पद को प्राप्त कर लेता है। इच्छाओं के मारने का तरीक़ा त्याग है। प्रत्येक स्त्रीपुरुष को चाहिए कि वह गार्हस्थ्य छोड़कर भिक्षुक बन जाय। यदि अपने इस प्रयत्न में सफल न हो तो वह दुबारा गृहस्थ बन सकता है। किन्तु निर्वाण प्राप्त करने के लिए फिर उसी मार्ग से आना पड़ेगा। इस उपदेश से हमारे देश के वृद्ध, युवा, स्त्री, पुरुष सभी निर्वाण की ओर देखने लगे। उन्हें इस बात की परवा-

न थी कि उन के देश, जाति या समाज की क्या अवस्था है। मैशीन का हरएक पुर्ज़ा अपने आप को उस से पृथक् समझकर अपने उद्देश्य की ओर चल पड़ा। यह मार्ग प्रत्येक मनुष्य को सुन्दर और कम उत्तरदायित्ववाला प्रतीत होता हो, किन्तु यह ठीक न था। संसार एक संग्राम का क्षेत्र है। यहां नित्यप्रति अच्छाई बुराई का संग्राम होता है। जहां और यहां कोई कोई देवता दिखाई देता है वहां पर असुरों की भरमार है। एक मनुष्य दूसरे को मारना चाहता है। एक वंश दूसरे को हड़प करना चाहता है। एक जाति दूसरी बहिन-जाति को खाने के लिए तैयार है। यदि मनुष्य, वंश और जातियें सब का यही विचार हो जाय तब तो मुक्ति ही अच्छी है और प्रत्येक को उस के लिए यत्न करना चाहिए। परन्तु क्योंकि यह संसार है; सबका एक विचार नहीं है। इसलिए यहां कोई मनुष्य अकेला उन्नति नहीं कर सकता।

केवल यही नहीं, प्रत्युत समाज में यदि लोग मूर्ख गँदले और पापिष्ठ हैं, तो वे ऐसे कुकर्म करेंगे, जिन से मुक्ति का अभिलाषी अशान्तचित्त हो जायगा। उनके कुकर्म और गँदलापन ऐसे रोग उत्पन्न करेंगे कि सर्वथा शुद्ध रहने-वाला मनुष्य भी उनके प्रभाव से न बचेगा। यदि अन्य लोग रोगग्रस्त हैं, वे भूख से लाचार हैं, तो कौन मनुष्य होगा, जो अपने पड़ोसियों को दुःख में छोड़ कर आप आसमान पर चढ़ने के अवसर में लग जायगा। यदि समस्त

जाति अज्ञान के अंधकार में ठोकरें खा रही हो, नहीं नहीं पराधीनता-पाश में बँधी हो, तो क्या यह सम्भव है कि उसके मध्य में रहता हुआ एक मनुष्य मुक्ति का भागी कहला सके? यह सम्भव नहीं कि समाज के सभी मनुष्य तो गड्ढे में गड़े हों और उसका एक सदस्य पर्वत के शिखर पर चढ़ जाय। समाज सदा या ऊपर चढ़ती है या नीचे गिरती है। यह हो सकता है कि उसकी उच्च श्रेणी दस क़दम आगे चलती हो और शेष सब थोड़ा पीछे आवें। परन्तु सब लोग तो भूमि पर चलें और कुछ लोग एकसाथ आकाश में उड़ने लगें, ऐसा कभी नहीं हो सकता। कारण क्या? देश की उच्च श्रेणी जनसाधारण की सार्वजनिक उन्नति का ही फल होती है। जर्मनी या इंगलैण्ड के अध्यापक या वैज्ञानिक साधारण जर्मन या अंगरेज़ परिवारों में ही उत्पन्न होते हैं। इन ही परिवारों से समाज बनता है। शारीरिक उन्नति होती हो या वैभव बढ़ रहा हो इससे सारा समाज आगे बढ़ता है। यदि एक जाति दारिद्र्य में फंसी है तो उसमें धनवान् कहां से उत्पन्न होंगे? शारीरिक दृष्टि से जो जाति पतित हो कर भीरू बन गई है, वे वीर कैसे उत्पन्न कर सकती है?

जो बात हम कभी स्मरण नहीं रखते, किन्तु जो हमारे लिए है परमावश्यक, वह यह है कि समाज एक शरीर है, और भिन्न भिन्न श्रेणियां उसके अङ्ग हैं। जातीय धर्म या सामा-

जिक धर्म साधारण अर्थात् व्यक्ति-धर्मों से कहीं अधिक आवश्यक हैं?

मैं समझता हूँ कि बौद्धों के कर्म-सिद्धान्त ने हमारी जाति में एक प्रकार के स्वार्थ का बीज बो दिया। कर्म का सिद्धान्त यह है—'प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों का आप उत्तरदायी है, वही उनका फल भोगता है'। यद्यपि इसमें थोड़ी सी सच्चाई है परन्तु यह सर्वथा सत्य नहीं। क्योंकि कुछ लोग ऐसे कर्म करते हैं, जिन से न केवल वह अपने आप को प्रत्युत समस्त जाति को नष्ट कर देते हैं। कइयों के कर्म जाति को उन्नति को ओर ले जाते हैं। सारांश यह कि प्रत्येक मनुष्य के कर्मों का फल उसके व्यक्तित्व के लिए ही नहीं होता, प्रत्युत इस सीमा से परे जाति और देश तक फैलता है।

कर्मों की गति भी बहुत न्यारी है। किसी मनुष्य के मन में एक विचार उठता है। जब वह निश्चय कर के उसे कार्य रूप में लाता है, तब उसका प्रभाव समस्त देश पर—नहीं नहीं समस्त संसार पर, सदा के लिए फैल जाता है। वाशिंगटन के काम का प्रभाव केवल अमरीका के स्वातन्त्र्य-युद्ध पर ही नहीं पड़ा। प्रत्युत उस का सारा भविष्य इस के द्वारा बना। आजकल वाशिंगटन के जीवन का प्रभाव न सिर्फ़ अमरीका प्रत्युत संसारभर के बच्चों पर होता दिखाई देता है। कौन कह सकता है कि इटली के वीर मेज़िनी के काम का अन्त हो गया? जब तक उस की

इमारतें रहेंगी तब तक उसका नाम रहेगा! उस के शुभ कर्मों का प्रभाव भी संसार में दूर न होगा।

इस के मुक़ाबले पर विदेशियों के आक्रमणों के समय भारतवर्ष के राजाओं ने अपना धर्म न समझा. लोगों ने क्षत्रिय तथा ब्राह्मण कहलाते हुए भी अपना धर्म पालन न किया। वैसा न करने का नतीजा क्या हुआ? हिन्दू जाति विदेशियों के दासता के जाल में जकड़ी गई। कर्मों का सिद्धान्त तो बड़ा सीधा सादा है। प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों का स्वयं उत्तरदायी है। उस समय जिन जिन लोगों ने, चाहे वे क्षत्रिय हों या ब्राह्मण, देश की रक्षा न की और अपने निजी काम में, चाहे वह योग है या सन्ध्या, लगे रहे, उनके लिए कर्मों का सिद्धांत क्या फ़ैसला देता है?

मैं तो समझता हूँ कि कर्मों का सिद्धान्त केवल मनुष्य के व्यक्तिगत पहलू पर ही लागू है। और यह प्रत्येक कर्म के जातिगत प्रभाव की उपेक्षा करता हुआ, अपूर्ण और अयथार्थ है। धर्म का पालन कुछ लोगों ने न किया, किन्तु दासता की ज़ंजीर आनेवाले सभी लोगों के पाँव में पड़ गई। दासता में पड़ कर उनका कर्म-स्वातन्त्र्य नष्ट हो गया। गुलामी ने समस्त समाजिक संगठन को उलटपुलट कर दिया। इस उलट अवस्था में मनुष्य अपने साधारण धर्मों का भी पालन नहीं कर सकता। राजभक्त हो कर अपना सर्वस्व राज्य के लिए बलिदान कर देना एक बड़ा धर्म है।

परन्तु जब राज्य विदेशियों के हाथ में हो, तब यह राजभक्ति धर्म ही नहीं रहती, प्रत्युत अधर्म बन जाती है। टोडरमल अपने समय का एक अद्वितीय धीमान् हुआ है। उसने मालगुजारी का तरीक़ा निकाल कर मुसलमानी राज की जड़ों को मज़बूत किया। परन्तु यह कहना कठिन है कि उसने विदेशी राज्य को स्थायी रूप देकर अपने देश के लिए कोई अच्छा काम किया।

जब सारा कारखाना पाप और अधर्म से चल रहा हो, तब जो मनुष्य उसका पुर्ज़ा बन कर ईमानदारी और धर्म पर चलता है वह धर्म का उपहास करता है। तब कोई सच्चा और धार्मिक मनुष्य उस मैशीन का पुर्ज़ा नहीं बन सकता। जिस विभाग में रिश्वत का बाज़ार गरम हो, वहां रिश्वत न लेनेवाला का कभी गुज़ारा नहीं होता। अन्य कर्मचारी उसे बेवकूफ़ बनाते हैं और वह बड़ा तंग रहता है। उसका एक मात्र उपाय यही है कि या तो वह उस मैशीन का पुर्ज़ा न बने और या अपना धर्म भी वैसा ही बनाले। जो लोग यह बात भूल कर कि प्रत्येक मनुष्य समाज का अंग है, मनुष्य के साधारण धर्मों पर बहुत ज़ोर देते हैं, चाहे लाख यत्न करें वे कभी व्यक्ति धर्मों का प्रचार नहीं कर सकते। साधारण धर्म तब ठीक है जब कि समाज अपनी प्राकृतिक अवस्था में हो। अप्राकृतिक अवस्था में सब साधारण धर्म उलट पुलट हो जाते हैं। तब धर्म की कसौटी जातीय धर्म होती है,

और वे साधारण धर्म किसी काम का नहीं, जो जातीय धर्म के अनुकूल नहीं होता।

साधारण धर्म का लक्षण मनु की मनुस्मृति में इस प्रकार है—धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत् और अक्रोध। इन की व्याख्या करना अनावश्यक है। ये ऐसे नियम हैं कि इन पर किसी मत को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इन दस लक्षणों को पतञ्जलि ऋषि ने अपने योगशास्त्र में दो भागों में बाँट दिया है। उन्हों ने पाँच को—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—यम नाम दिया है। और शेष पाँच, सन्तोष, तप (डिसिप्लिन), स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान—को नियम बताया है। यमों का नियमों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। यम बतलाते हैं कि हम दूसरों के साथ कैसा बर्त्ताव करें। हम किसी से वैर-भाव न रक्खें, सदा सच बोलें, किसी की वस्तु को नहीं चुराएं, पर स्त्री से माता या बहिन का बर्त्ताव करें, और अपने व्यक्तित्व को बहुत न बढ़ाएं। समाज में शान्ति केवल उसी अवस्था में हो सकती है, जबकि सब लोग इन बातों पर आचरण करें। यदि हम इन का ध्यान न रक्खेंगे तो समाज में गड़बड़ मच जायगी। यों तो कहा जाता है कि दूसरों के साथ बर्त्ताव के लिए सुनहरी नियम सब से अच्छा है। सहस्रों वर्ष हुए एक चीनी दार्शनिक ने बताया था—दूसरे के साथ वही बर्ताव करो, जो तुम चाहते हो कि दूसरे

तुम्हारे साथ करें। परन्तु यह नियम बहुत खुला है। आचरण करते समय प्रत्येक मनुष्य को विचार की आवश्यकता रहती है। किन्तु सभी मनुष्य सोच कर अपने आचरण का निर्णय नहीं कर सकते। इसलिए अच्छा यह है कि जन-साधारण को मोटे तरीके से बताया जाय कि उन्हें दूसरों के साथ कैसा बर्त्ताव करना चाहिए। वह सब इन पाँच यमों के अन्दर आ जाते हैं। पतञ्जलि ने योगसिद्धि के लिए आठ अवस्थाएं बताई हैं। उन में सब से पहली यह है कि जो मनुष्य योगसिद्धि के मार्ग पर चलना चाहे, उसे ऐसे मनुष्यों के साथ रहना चाहिए, जो इन यमों को मानते हो और इन पर आचरण करते हों। यदि वह मनुष्य व्यभिचारियों, चोरों और दुष्टों की संगति में रहता है तो अभी वह योग की पहली सीढ़ी पर भी नहीं चढ़ पाया।

इस के बाद दूसरे भाग में पतञ्जलि ने पाँच नियम बताए हैं। इन पाँचों का मनुष्य के निज से घनिष्ट सम्बन्ध है। इन को पूरा करने वा न करने से तत्क्षण दूसरों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये पाँच मनुष्य के जीवन के मुख्य नियम हैं, जो उसे सन्मार्ग पर चलाकर उन्नति की ओर ले जाते हैं। अपनी उन्नति के लिए मनुष्य को इन नियमों पर आचरण करना और दूसरों के साथ बर्त्ताव में यमों का ध्यान रखना आवश्यक है। ये दस यम और नियम मिलकर एक प्रकार से मनु के दस लक्षणों के बराबर होजाते हैं।

—o—

जातीय धर्म

मैं ने इंगलैण्ड का गाँव भी देखा है और इस देश के एक गाँव में तो पैदा हुआ और पला हूँ । दोनों गाँवों के जीवन में बड़ा अन्तर है । एक शब्द में उन में समष्टिगत्त (कॉरपोरेट) जीवन पाया जाता है, जो हम अपने अन्दर नहीं देखते । सफ़ाई एक नियम है । इस से हम अनभिज्ञ नहीं । हम सब स्त्रीपुरुष इसे जानते हैं और इसकी क़दर करते हैं । परन्तु समष्टिगत जीवन न होने से हम इस नियम पर आचरण करते हुए भी नहीं करते । प्रतिदिन प्रातः उठकर घर की स्त्री अपने मकान और सहन में झाड़ू देगी परन्तु वह सारा कूड़ा घर से उठा बाहर गली में फेंक देगी। घर तो अन्दर से सब साफ़ हो जाते हैं, परन्तु उनका सब कूड़ा करकट गली में फेंके जाने से गली गंदगी और कूड़े से भर जाती हैं । क्या जो हम करते हैं, वह सफ़ाई है ? हमने जो सफ़ाई की है, वह किसी अंश में भी अपना उद्देश पूर्ण नहीं करती। गलियों में गंदगी के इकट्ठा होजाने से समस्त गाँव गंदा होजाता है, वह बीमारी का घर बन जाता है गलियों से बीमारी पैदा होकर कहां जायगी ? घरों पर आक्रमण करेगी ! वह एक घर से दूसरे में और दूसरे से सारे गाँव में फैलेगी । हमारे घर में पानी और चौका की सफ़ाई होती है। परन्तु जहां से पानी लाया जाता है-कूआ या

तालाब—वह चाहे कैसा ही अपवित्र हो, इसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। यदि जलाशय गंदा है तो वहां से गंदा पानी भर के चौके का क्या लाभ ? गंगा का पानी बड़ा पवित्र और शुद्ध है। किन्तु हरिद्वार में प्रति वर्ष हैजा पड़ता है। इसका क्या कारण ? यात्री लोग ही, जो पानी की पवित्रता से खिंचे हुए वहां जाते हैं, गंगा के पानी में अपना मैला फेंकते हैं। पवित्र पानी से वे अपने लिए स्वयमेव बीमारी पैदा करते हैं।

अमेरिका के पश्चिमी किनारे पर सीएटल एक नगर है। इस नगर के लिए कुछ दूर से पानी लाया जाता है। यह पानी पर्वतों में से इकट्ठा किया जाता है। इन पर्वतों में से रेल की लाइन भी गुज़रती है। एक बार इस लाइन पर मैं भी सफ़र कर रहा था। जब ट्रेन एक खास जगह पर पहुंची तब सब गाड़ियों के पेशाब के कमरों को ताले लगा दिए गए। पानी का इहाता गुजर जाने पर ताले खोल दिए गए। ताला लगाने का कारण यह था कि उतने प्रदेश में कोई मनुष्य पेशाब न कर पाए। क्योंकि उस प्रदेश में वे पर्वत थे, जिन से पीने का पानी इकट्ठा किया जाता था। इस सारे इहाते के गिर्द पहरा था। कोई मनुष्य या पशु इस में से गुज़र न सकता था। अमेरिका में इतना प्रबन्ध केवल पानी को साफ़ रखने के लिए किया जाता है।

जहां हमारे हां प्रत्येक मनुष्य अपने अपने घर के लिए

सोचता है वहां इंगलैण्ड के गाँव के लोग इकट्ठे होकर पहले इन बातों का प्रबन्ध करते हैं कि उनके गाँव की गलियां और सड़कें कैसे साफ़ रक्खी जा सकती हैं, मैले को बाहर ले जाने का क्या प्रबन्ध होना चाहिए, गाँव को शुद्ध और पवित्र जल कैसे पहुंचाया जाय, बच्चों के खेलने कूदने और फिरने फिराने के लिये शुद्ध वायु में पार्कों का प्रबन्ध कैसे किया जाय। हम इन में से कोई बात अपने गाँव में नहीं पाते। परन्तु हां, पहले एक बात ज़रूर होती थी। प्रत्येक गाँव के साथ भेड़ बकरी आदि के चराने के लिये कुछ भूमि 'शामलात' के तौर पर खाली रहती थी। अब भूमि का लालच इतना बढ़ने लगा है और सरकार को अपना लगान बढ़ाने का इतना फ़िक्र है कि वह भूमि भी ख़ास लोगों ने अपने हाथ में कर ली है। गाँव में अब गाय बकरी रखना भी कठिन हो गया है और खाने पीने को दूध दही भी मुश्किल से नसीब होता है। हमारे धार्मिक नियमों में समष्टि गत जीवन का बहुत कम ध्यान रक्खा गया है। हमारी स्मृतियों ने प्रतिदिन प्रातः उठकर दातुन, स्नान और जप करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म बताया है, परन्तु समष्टिगत जीवन के लिए कोई बात ऐसी नहीं, जिसे धर्म बताया हो, या जिसे लोग ध्यान में रखते हों।

इस का कारण क्या है? यह कि इस देश में सब प्रकार के कर्त्तव्यों को पृथक् करके उन्हें विशेष श्रेणियों के लिए

नियत कर दिया गया। समष्टिगत जीवन की रक्षा और उन्नति का काम राजा को सौंपा गया। राज्य—प्रबन्ध या शासन क्षत्रियों का काम था। इंगलैण्ड आदि देशों में राज्य करने के लिए कोई विशेष श्रेणी नहीं। राज्य का सब प्रबन्ध लोगों के हाथ में है। इसे प्रजातन्त्र राज्य कहा जाता है। यह मानना पड़ता है कि इस देश में अन्य देशों जैसा प्रजा-तन्त्र राज्य कभी नहीं हुआ। वर्णाश्रम का भाव प्रजातन्त्र के सर्वथा विरुद्ध है। हमारे ऋषि मुनि मनुष्य-स्वभाव पर चिन्तन करने के पश्चात् इस परिणाम पर पहुंचे कि सब मनुष्य सब कामों को भली भान्ति नहीं कर सकते। इस लिए भिन्न भिन्न धर्मों को भली भान्ति निभाने के लिए श्रम-विभाग होना चाहिए। जाति की आत्मिक या मानसिक उन्नति के लिए एक विशेष श्रेणी बनाई गई जिन्हें ब्राह्मण कहा गया। ब्राह्मण स्वयं ज्ञानस्वरूप होते थे। सामाजिक प्रबन्ध और सामाज-रक्षा का काम क्षत्रियों के और जाति का आर्थिक प्रबन्ध वैश्यों के सुपुर्द किया गया। शूद्र लोग सेवा करते थे। यह श्रमविभाग वैदिक काल में हुआ। वेद ने बताया है कि ब्राह्मण सामाज के मस्तिष्क, क्षत्रिय बाहु, वैश्य पेट और शूद्र पाँव के समान हैं।

प्रत्येक जाति का परम धर्म है कि वह अपनी रक्षा करे। कोई मनुष्य अकेले ही उन शक्तियों का सामना नहीं कर सकता, जिनका मुक़ाबला सम्पूर्ण जाति को करना पड़ता

है। यह संसार एक रणक्षेत्र है, जिस में प्रत्येक जाति को कभी तो प्राकृतिक शक्तियों से और कभी आन्तरिक और बाह्य शक्तियों से अपनी रक्षार्थ लड़ना पड़ता है। जाति के लिए अपनी रक्षा करना आवश्यक है। क्षत्रिय इस कारण जाति का वह भाग है, जो इस कर्त्तव्य का पालन करता है। प्रत्येक जाति का अन्य एक आवश्यक धर्म यह है कि वह अपने भरण-पोषण का प्रबन्ध करे। शिल्प आदि का प्रबन्ध भी इसी में आजाता है। जाति का जो भाग इस धर्म का पालन करता है वह वैश्य कहलाता है। परन्तु इन से भी बढ़कर जाति के लिए आवश्यक यह है कि वह अपने मस्तिष्क को दुरुस्त रक्खे और उसे उन्नत करे। इस धर्म को पालन करनेवाला ब्राह्मण हुआ करता था। हिन्दू जाति के ऋषियों ने जब इन जातीय आवश्यकताओं का अनुभव किया, तब वर्णाश्रम को बनाया। जातीय व्यापार, शासन और शिक्षा तीन ऐसे आवश्यक धर्म हैं, जिनके पालन किए बिना कोई जाति जीवित नहीं रह सकती। स्वराज्य-प्राप्ति भी वैसी ही आवश्यक है जैसा कि जातीय शिक्षा या व्यापार का स्थिर रखना। हम इन तीनों बातों को खोकर तीनों धर्मों की पूर्त्ति के लिए अयोग्य हैं। हमारे क्षत्रिय वे नहीं हैं, जो सरकारी फ़ौज में नौकर हैं। हमारे ब्राह्मण वे नहीं हैं, जो सरकारी शिक्षा के प्रचार के उत्तर-दायी बने बैठे हैं। इन्हें कभी विचार तक नहीं हुआ कि

शिक्षा का वास्तविक अर्थ क्या है। वह शिक्षा नहीं है, जो मनुष्य को केवल वैयक्तिक लाभ और उन्नति के योग्य बना दे और उसके जातीय जीवन नष्ट कर दे। प्रत्युत जातीय शिक्षा वह है, जिस के द्वारा जातीय उन्नति हो, यद्यपि ऐसी शिक्षा प्राप्त करनेवालों को तात्कालिक कोई लाभ नहीं दिखाई देता। हमारी जातीय शिक्षा रूपी नाव के नावक इस समय केवल विद्यार्थियों के सांसारिक लाभ को ही अपना उद्देश्य बनाए बैठे हैं। इसी प्रकार हमारे वैश्य क्या हैं ? उन का नाम केवल विदेशी व्यापार को अपने देश में बढ़ाना और अपने व्यापार को रोकना है। हमारे हां ऐसे वैश्य भी हैं, जिन्होंने अपने व्यक्तिगत लाभ को अपने सामने रखकर स्वदेशी के आँदोलन को नष्ट करने की चेष्टा की। जब जनसाधारण ने स्वदेशी खाँड का प्रयोग आरम्भ किया तब कई देशद्रोही व्यापारियों ने विदेशी खाँड में गुड़ मिला, उसका रंग बदलकर उसे देसी खाँड के रूप में बेचना आरम्भ किया।

बम्बई में कपड़े के कारखानों के ऐसे स्वामी हैं, खद्दर के आँदोलन के दिनों में जिन्हों ने जापान से खद्दर मंगाकर और उस पर अपनी छाप लगाकर उसे 'स्वदेशी' कहकर बेचा। बम्बई शहर में कई ऐसे कारखाने हैं, जिनका काम ही केवल यह है कि वे हिन्दुस्थान भर की हड्डियां को इकट्ठा करके, उन्हें पीस कर बाहर विदेशों को भेजें। हड्डियां

भूमि का भोजन है। इधर हमारी भूमि को भोजन न मिलने से वह दिन प्रतिदिन निर्बल हो रही है, उधर कारखानेदार कमीशन के लालच में फंसे हुए विदेशों की भूमि को उपजाऊ बना रहे हैं। देशद्रोह में बातें देखकर हम स्पष्ट इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि हम में जातीय धर्म के समझने के लिए विवेक बहुत कम है।

वर्णाश्रम बड़ा अच्छा तरीक़ा था। इस में कोई भूल न थी। भूल एक अन्य स्थान में थी। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह एक काम करके पीछे आराम करने लगता है। इस आराम में आलस्य आजाता है। परन्तु नियम इस के विरुद्ध है। किसी संस्था को स्थापित करने के पश्चात् उसे चलाने के लिए उसकी बराबर ख़बरदारी आवश्यक होती है। इसीलिए कहा गया है—स्वतन्त्रता को क़ायम रखने के लिए लगातार ख़बरदारी का मूल्य देना पड़ता है। थोड़ी-सी असावधानी करो, स्वतन्त्रता आप से आप छिन जाती है। वर्णाश्रम में थोड़ी-सी असावधानी हुई। ऊंची श्रेणी के लोगों ने अपने धर्म को भुला दिया। स्वभावतः जनसाधारण पितृकर्मानुसार पुत्र को भी वैसा ही समझने लगे, नतीजा क्या हुआ? गुण कर्म की परीक्षा जाती रही। परीक्षा करनेवाली केवल समाज की सामूहिक शक्ति हुआ करती थी। वह सो गई। इस से जन्म का विचार ही प्रधान हो गया। ज्यों ज्यों जन्म की विजय होती गई, गुण कर्म

छूटते गए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सब ने अपने कर्त्तव्य भुला दिए। मेरी सम्मति में वर्णाश्रम में जन्म के प्रवेश करने से बड़ी भयानक हानि यह हुई कि जन्म से मनुष्य को ब्राह्मण या क्षत्रिय मानने के कारण किसी को अपने धर्म पालन करने की आवश्यकता न रही।

बुद्धिमत्ता की पराकाष्ठा और पागलपन में एक बिन्दु का ही अन्तर होता है। जिस की मानसिक शक्तियां बहुत बढ़ जाती हैं, उस के दिमाग़ में एक दर्जा तेज़ी के बढ़ जाने से पागलपन आ जाता है। यों भी जो महापुरुष अपने सिद्धान्तों में संसार से ज़रा आगे होते हैं, सुकरात की तरह जनसाधारण उन्हें भूलाभटका या कोरा ही समझते हैं। इसी प्रकार पर्वत के शिखर और खड्ड की गहराई में भी एक क्षण का ही अन्तर होता है। चोटी पर खड़ा हुआ मनुष्य ज़रा दूसरी ओर फिसलता है। एक क्षण में वह कहीं का कहीं जा पड़ता है, इसका अनुमान करना कठिन है। गुण कर्म की जगह जन्म हो जाने से वर्णाश्रम के तरीक़े में थोड़ा परिवर्त्तन हुआ। परन्तु इस से जाति चोटी से गहरी खड्ड में जा पड़ी। ब्राह्मणों में आत्मज्ञान के स्थान अविद्या और स्वार्थ आगया। देश का अगुआ कौन बने और अगुआई कौन करे? मूर्खों की अगुआई केवल उसी तरह हो सकती थी, जिस से मूर्ख रहते हुए उन्हें सुख मिलता रहे। क्षत्रियों में वीरता और देश के लिए आत्मबलिदान

करने की जगह कायरता और अपने प्राणों के लिए देश को कुर्बान करना आगया। देश की रक्षा कौन करता, जब कि देशरक्षकों में ही देशघातक उत्पन्न हो गए। वैश्यों में धर्म से धन कमाकर जाति के लिए दान करने की जगह देश और धर्म को बेचकर धन कमाने का लालच आगया। शूद्रों ने भी जाति-सेवा छोड़ दी। जिस की सेवा से उनका पेट अधिक भरा वे उसी की सेवा में लग गए। ब्रह्मचारियों ने ब्रह्मचर्य छोड़ दिया। गृहस्थों ने अपने आश्रम के धर्म भुला दिए। नाम को वैरागी रह गए। किन्तु उनका जीवन गार्हस्थ्य के जाल से भी अधिक खराब हो गया। संन्यास केवल वस्त्र बदलने में ही समझा गया। आश्रम की भिन्न भिन्न सीढ़ियों के अन्तस्तल में यह नियम काम करता था कि मनुष्य अपने आप को अधिक से अधिक योग्य किस प्रकार बना सकता था। वर्णाश्रम का उद्देश्य ही यह था कि मनुष्य किसी प्रकार अपने आप को समाज-सेवा के लिए ज्यादा से ज्यादा उपयोगी बना सके है।

बौद्धों ने वर्णाश्रम को तोड़ कर व्यक्ति-धर्म को ही एक आदर्श बना लिया—समाज का क्या है, मनुष्य को अपने निर्वाण के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए! हिन्दू पण्डितों और राजाओं को फिर वेद-मार्ग स्थापित करने का यत्न करना पड़ा और वे अपने यत्न में सफल हुए। यह सारा प्रयत्न उन लोगों के विरुद्ध था, जो इस देश में उत्पन्न हुए

थे : इस देश के ही रहनेवाले थे।

इस्लामी आक्रमणों और विजय के काल में हिन्दू भक्तों ने, चित्तौर के राजपूतों ने, शिवाजी और उस के उत्तराधिकारियों ने और पञ्जाब में क्षत्रियगुरुओं और एक वीर वैरागी ने धर्म-रक्षा के लिए एक आँदोलन खड़ा किया इनका आँदोलन उन विधर्मियों के विरुद्ध था, जिन्हों ने बाहर से भारत में आकर अपना राज्य स्थापित किया। और जो हिन्दू धर्म को नष्ट करना चाहते थे। इस समय भी देश के अन्दर रहनेवाली एक विशेष आबादी है, जिस का अधिकार कुछ नहीं, परन्तु जिस में हिन्दुओं को मार मिटाने की इच्छा अभी तक बाक़ी है। हमारे घर के साथ पड़ोस में हमारे शत्रु हैं, जो अधिक भयानक इस लिए हैं कि वे हमारी सब कमज़ोरियों को भली भांति जानते हैं।

हमारे देश का राज्य एक अन्य जाति के हाथ में है, जो हम से बढ़कर चालाक, बुद्धिमान और होशियार है। जैसाकि मुसलमान बादशाहों ने किया हमारे वर्त्तमान शासकों का एक प्रयत्न यह है कि हमारे देश की सब नीच श्रेणियां उन के धर्म में जाकर, उन के राज्य के रक्षक और सहायक बन जाएं। जिनको हमने चूहड़े चमार और नीच बनाकर दबा रक्खा है, वे ईसाई होते ही हमारे अफ़सर बन जाते हैं। पञ्जाब में लायलपुर आदि नहरी उपनिवेशों में हिन्दू ब्राह्मणों या क्षत्रियों को ज़मीन खरीदने का अधिकार नहीं

है। किन्तु ईसाई हो जाने पर एक चूहड़ा भारत की भूमि का पति बनने का स्वत्व प्राप्त कर लेता है।

राज्य-बल विदेशियों के हाथ में चले जाने से हमारे क्षत्रिय तो सब आप ही बिक जाते हैं। देश का सारा व्यापार उन के हाथ में होने से इस देश के वैश्य धन पैदा करने-वाली श्रेणी नहीं रही, प्रत्युत उन के व्यापार को बढ़ाने के लिए वे केवल दलालों का काम करते हैं। तीसरे ब्राह्मण थे। उन की अवस्था सब से शोचनीय है। शिक्षा-प्रणाली सरकारी है। पठित समाज को रोटी और आराम देना भी सरकार के अधिकार में है। बजाए इस के कि शिक्षा धर्म की रक्षा का—वेद शास्त्र की रक्षा का—साधन हो, रोटी और आराम का साधन बन गई है। तलवार के बल से और राज-नीति के बल द्वारा शारीरिक दृष्टि से तो हम विजित हो गए, किन्तु इस के साथ ही रोटी, इज़्ज़त और अपने भाइयों पर झूठे प्रभुत्व के लालच ने हमारे अन्दर मानसिक दासता की नींव भी डाल दी है। इस शिक्षा ने हम में से संस्कृत, वेद-शास्त्र और अपने साहित्य के प्रति प्रेम को नष्ट कर दिया है। और उस की जगह अंगरेज़ी भाषा और साहित्य के लिए प्रेम उत्पन्न कर दिया है। अंगरेज़ी के द्वारा हम ने न कोई ज्ञान प्राप्त किया है न कोई अन्य गुण, इससे केवल हमारा जातीयता का भाव नष्ट होता जाता है। यह शिक्षा हमारी आत्मा और मन दोनों को जीत रही है: सच्चे ब्राह्मणों का आप से आप ही

अन्त हो गया है। ब्राह्मण विद्या इस लिए प्राप्त करता था कि त्याग का जीवन व्यतीत करता हुआ जाति के बच्चों को विद्या प्रदान करे। अब जो प्रश्न बार बार मेरे कान में पड़ता है और मेरे हृदय को खिन्न करता है, वह यह है कि केवल संस्कृत पढ़कर या जातीय शिक्षा प्राप्त करके हम करें क्या? ठीक है, बाजार में इस शिक्षा की कोई क़ीमत नहीं! यदि शिक्षा को बेच कर सुखभोग करना हो तो सरकारी डिग-रियों को प्राप्त करने में अपनी आयु और मातापिता का रुपया खर्च करो। इसे प्राप्त करके तुम सरकारी नौकरी का द्वारा खुला पाओगे। परन्तु यह भी नहीं है कि प्रत्येक सरकारी शिक्षा पानेवाला अपना मतलब सिद्ध करने में सफल होता हो। हम देखते कुछ और हैं। सरकारी नौकरियों और उसके पीछे भटकनेवालों का हम पारस्परिक मुक़ाबला करें तो मालूम होता है कि सरकारी शिक्षा एक लॉट्री या जुआ है, जिस में लाखों लोग अपना हिस्सा डालते हैं। परन्तु कोई भाग्यवान् ही होता है, जिस के लिए लॉट्री निकलती है। मैं शिक्षा को इस उद्देश्य से प्राप्त करना चाहूँगा कि उस से मेरी बुद्धि प्रकाशमय हो, मुझे धर्म का ज्ञान हो और उसके द्वारा मैं देश जाति और धर्म की सेवा कर सकूँ।

हमारा दुखड़ा यहां ही समाप्त नहीं होता, बड़ा दुःख यह है कि हमारी जाति को कई आन्तरिक रोग चिमटे हुए हैं, जो इसे दीमक की तरह खा रहे हैं। बाल-विवाह

की कुप्रथा हमारे अन्दर है, जिस से हमारी जाति का ब्रह्म-चर्य नष्ट हो रहा है, और हम शारीरिक दृष्टि से अत्यन्त दुर्बल सन्तति उत्पन्न करते हैं। उनके शरीर बलवान् नहीं होते। वे आत्मरक्षा करने में असमर्थ होते हैं : दुर्बल शरीर होने से वे साहसी भी नहीं हो सकते। साधारणतया साहसी वही होता है, जिस के शरीर में बल होता है। हमारे यहां लाखों विधवाएं हैं, जिन से हमारे घर शोकमय बने हुए हैं। छोटी लड़की का विवाह कर देना और फिर यदि वह विधवा हो जाए तो उसे आयु भर के लिए एक प्रकार की चिता पर बिठा देना अन्याय की पराकाष्ठा है, जो हिन्दू-समाज में ही पाया जाता है। इन विधवाओं के होने का अर्थ यह है कि पुरुषों की भी इतनी संख्या बिना विवाह के हो। इतने लोगों के अविवाहित रहने से हमारी संख्या कम न हो तो क्या हो! इस से बढ़कर हम प्रतिदिन कई घटनाएं देखते और सुनते हैं कि अमुक विधवा लड़की को अन्य मज़हब के धूर्त्त निकाल ले गए। क्या इस अन-र्थ का उपाय हमारे हाथ में नहीं है? कुछ वर्ष हुए सहारनपुर में एक घटना हुई। एक विधवा स्त्री का अकेला जवान पुत्र मर गया और युवती विधवा छोड़ गया। उसके पास धन बहुत था। माता ने निश्चय किया कि एक मन्दिर बनवाने में कुछ रुपया लगाए। उसने मन्दिर बनवा लिया। किन्तु कुछ मुसलमानों ने झगड़ा खड़ा कर दिया कि यह ज़मीन हमारी

सम्पत्ति है। वे मुक़द्दमा अदालत में हार गए। अपील हुई उन्हें कुछ आशा न थी। उनको अब धूर्त्तता सूझी। कुछ गुण्डे लड़की को भगा कर ले गए। वह मुसलमान हो गई। मुक़द्दमे की समाप्ति हो गई। सब सम्पत्ति और मन्दिर मुसलमानों के हाथ में चला गया।

'अछूत' एक अन्य रोग हमें चिमटा हुआ है। हम अपने भाइयों को छूने से परहेज़ करते हैं, और प्यासे मरते हुए उनको हम पानी तक देने को तैयार नहीं हैं। वे ही जब अन्य धर्म में चले जाते हैं तब हमारी गरदन पर पाँव रख कर हमें झुका लेते हैं। वे ही हमारे हाथ हैं, वे ही हमारे पाँव हैं और हम उन से घृणा करते हैं। हम उन से कोई काम नहीं लेते; प्रकृति हमें दण्ड देती है। कष्ट में पड़कर हमें मालूम होता है कि हम क्या पाप कर रहे हैं। क्या अब भी हम संभलेंगे ?

एलबेरूनी ने हिन्दुओं का एक बड़ा दोष यह बताया है कि उन्हें ऐसा घमण्ड है कि वे किसी दूसरे को अपने अन्दर सम्मिलित नहीं करते। यदि हम में से कोई छोटी-सी भूल कर बैठे तो हम अपने भाई को पृथक् करने पर तैयार हो जाते हैं। यह नई बात नहीं है। चिरकाल से हमारी यही रीति चली आई है कि किसी न किसी तरह हम अपने भाइयों को पृथक् करते जायं। हिन्दू बिरादरियां जब कभी मिल बैठती हैं, तब यही विचारती हैं कि किस को अपने में से

निकाला जाय। सम्भवतः वे इकट्ठी ही इसी लिए होती हैं। प्राकृतिक नियम हिन्दू जाति से प्रतिकार ले रहा है, जो छोटी श्रेणियां शत्रु बन कर हमें लूट रही हैं; वे तो हमें हड़प करना चाहती हैं। परमात्मा ने न किसी को बड़ा बनाया है न छोटा। ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य 'ज़ात' नहीं है। ये शब्द ही पेशों के नाम हैं। मालूम होता है कि ज़ात उस समय बनती है जब यह प्रश्न किया जाता है—कौन ब्राह्मण? कौन क्षत्रिय? गौड़ हैं, सारस्वत हैं! मलहोत्रे हैं, साहनी हैं!

प्रथम तो मनुष्य-उतपत्ति के समय गोत्र न थे; दूसरे बौद्ध-मत के फैलाव के समय सब ज़ातों की खिचड़ी बन गई थी। उस से पहले महाभारत को देखिए। पराशर ब्राह्मण था। मल्लाह की पुत्री से व्यास उस का पुत्र उत्पन्न हुआ। व्यास ने अंबा और अंबालिका से नियोग किया तो पाण्डु और धृतराष्ट्र उत्पन्न हुए। पाण्डु की स्त्रियों ने नियोग किया तो पाँच पाण्डव उत्पन्न हुए। रक्त क्या एक रहा? हमारी बिरादरियां हमें अनुमति नहीं देतीं कि हम अपने पृथक् हुए भाइयों को वापस लें। मलाबार और मुलतान की घटनाओं ने हिन्दुओं की आँखें खोलीं और उन्हों ने शुद्धि का द्वार खोला। हिन्दुओं की अगणित ज़ातें उन के लिए रोग हैं। आरम्भ से चार वर्ण चले आते हैं। ज़ातें अस्वाभाविक हैं और पीछे से बनी हैं। इन ही से जाति बिरादरियों के असंख्यों टुकड़ों में विभक्त है। हमारे रक्त के झूठे अभिमान

ने और इन ज़ातों ने ही शुद्धि-आँदोलन को अब तक रोके रक्खा है। ये ज़ातें ही हमारे अन्दर एक जातीय भाव उत्पन्न नहीं होने देतीं। इन्हीं से हमारा विवाह-चक्र बहुत तंग है। इंगलैंड में व्यवसायियों के कई संघ हैं, जिन्हें व्यवसाय-संघ (ट्रेडयूनियन) कहते हैं। इन व्यवसायियों की सन्तान विवाह करने में स्वतन्त्र होती है, हमारे यहां की तरह माता पिता के अधीन नहीं। यही कारण है कि वहां पर ज़ात-पात नहीं बन सकती। यही ज़ातें हैं, जिन्हों ने हमारे विवाह के घेरे को भी बहुत तंग कर दिया है। हम उदाहरण लेते हैं। हम में से कई लोगों का रक्त कुछ खास ज़ातों में ही रहने से वे ज़ातें दिन प्रति दिन कायर बनती जाती हैं। नियम यह है कि दूर का जितना रक्त एक जाति के अन्दर आकर मिलेगा उस से उतनी ही उत्तम सन्तति होगी। मुझे तो हिन्दुओं की सारी कठिनाइयों का वास्तविक कारण एक ही मालूम होता है। वृद्ध होने पर मनुष्य बलहीन और निःसाहस होजाता है। इसी प्रकार अति प्राचीन होने से इस जाति की जीवन-शक्ति का भी ह्रास (फिज़्यॉलॉजीकल ह्रास) हो रहा है। इस ह्रास का एक ही उपाय है कि जाति की नाड़ियों में नवरक्त का सञ्चार हो। मैं समझता हूँ कि हिन्दुओं के जिन वंशों में अभी तक नया रक्त है, उन के साथ खुले तौर पर विवाह आदि के सम्बन्ध जोड़ कर जाति में नया जीवन डालना चाहिए।

पैसा-प्रेम हिन्दुओं का एक अन्य रोग है। हिन्दू खाते नहीं, पीते नहीं, पहिनते नहीं, व्यायाम नहीं करते, केवल विवाह आदि में अनुचित खर्च के लिए (आभूषणों आदि के लिए) रुपया बचाते हैं। यह एक ऐसा देश बन गया है कि यहां के वासी लुट जायंगे, नष्ट हो जायंगे, जान खो देंगे, परन्तु रुपया खर्च नहीं करेंगे। इस से उन के चरित्र में एक विशेष निर्बलता आ गई है। वे इसे अनुभव करते हैं और समझते हैं परन्तु वे कभी एक स्थान पर इकट्ठे नहीं होते। हिन्दू यही पूछते हैं—इस से क्या लाभ होगा? वे यह नहीं समझ सकते कि विचार के लिए इकट्ठा होना ही संगठन कहलाता है। मुसलमान लोग मसजिदों में इकट्ठे होते हैं। सब अंगरेज़ गिरजों में इकट्ठे होते हैं। हिन्दुओं का इकट्ठा होना सीखना ही उन की उन्नति का चिह्न है। कहते हैं एक बार किसी राजा ने तालाब को दूध से भरवाना चाहा। उसने आदेश किया कि नगर का प्रत्येक मनुष्य एक एक घड़ा दूध रात को तालाब में डाल जाय। सब ने समझ कर कि मैं पानी का घड़ा डाल दूंगा तो तालाब में क्या पता लगेगा, पानी डाल दिया। प्रातः जब तालाब देखा गया तो दूध के स्थान उसमें पानी था। हिन्दू अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते। प्रत्येक सारा बोझ दूसरों पर डाल देता है। प्रत्येक यही पूछता है कि यह काम कौन करेगा। प्रश्न यह होना चाहिए कि यदि यह काम मैं न करूँगा तो और कौन करेगा।

इन सब बातों के होते हुए भी मुझे हिन्दू नवयुवकों के चरित्र पर विश्वास है। निःसन्देह हम स्पष्ट देखते हैं कि हिन्दुओं की अपेक्षा अन्य लोगों में अधिक उत्साह, साहस, क़ुर्बानी और जीवन है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। जिन लोगों में जोश अधिक दिखाई देता है, परीक्षा के समय वे झट करवट बदल लेते हैं। अभियोग और जेल-जीवन का मेरा अनुभव है कि हिन्दू नवयुवकों में धैर्य और अव्यग्रता दूसरों से कहीं बढ़कर है। दूसरे मनुष्य जोश-व-ख़रोश में आकर देशभक्ति के क्षेत्र में कूद पड़ते हैं। हिन्दुओं में सोच विचार की शक्ति अधिक होने से वे जब किसी काम को शुरू करते हैं, संकट आने पर भी दूसरों की अपेक्षा अधिक अव्यग्र और अव्याकुल रहते हैं। सम्वत् १९७२ (सन् १९१५) के लाहौर के पहले राजद्रोह के अभियोग में लगभग अस्सी मनुष्य गिरफ़तार किए गए। इन में लगभग बीस हिन्दू थे और शेष सब सिक्ख। केवल एक ही मुसलमान था, पकड़े जाने से पहले ही जो मुख़बिर बन गया। सिक्खों में से केवल चौदह मनुष्यों को पुलिस ने वादा-मुआफ़ बनाना पसन्द किया। यदि वह चाहती तो कई और वादा-मुआफ़ बनने के लिए तैयार हो जाते। इस का प्रमाण उस समय मिला जब कि एक वादा-मुआफ़ के मरने पर एक दूसरे की आवश्यकता हुई, और कई सिक्खों ने इस काम के लिए अपने आप को पेश किया। इन वादा-

मुआफ़ों ने अभियोग को ठीक साबित करने के लिए झूठ बोलने से कहीं परहेज़ नहीं किया। हिन्दुओं में से केवल एक वादा-मुआफ़ बना। पुलिस के बहुत प्रयत्न करने भी वह बहुत कम सत्य से इधर उधर हुआ। एक और हिन्दू नव-युवक ने, जो एक बार वादा-मुआफ़ बन गया एक अन्य हिन्दू के विरुद्ध यह बयान दिया कि उस से मैंने पिस्टल प्राप्त किया था। जब वह मनुष्य गिरफ़्तार हुआ और उसके सामने आया तो वादामुआफ़ नवयुवक में आश्चर्यजनक साहस उत्पन्न हुआ। अब उस के सामने ये दो बातें थीं, या वह अपने आपको बचा ले या दूसरे के विरुद्ध गवाही देकर उसे फांसी पर लटका दे। चाहे वह सच्चा था या झूठा मैं समझता हूँ कि एक हिन्दू का ही मन हो सकता है, जो यह निर्णय कर सके कि अपने आपको बचाने के लिए दूसरे को संकट में नहीं डालना चाहिए। हिंदू नवयुवक ने अपने पहले बयान से इनकार कर दिया।

—-—o—-—

आर्यसमाज की परख

किसी वस्तु को परखना इतना सहज काम नहीं जितना कि समझा जाता है। जनसाधारण, जो देखते सुनते हैं वही कहने और मानने लग जाते हैं। वे जब कई बार एक

बात को सुन लेते हैं, तब उसके प्रभाव से उसे अपना बना बैठते हैं। इसके बाद उसके विरुद्ध मानना या सुनना भी उनके लिए कठिन होता है। दोनों बातों में जनसाधारण की अज्ञानता काम करती है। इसी कारण वे वस्तु की वास्तविकता पर पहुंच नहीं पाते और जो बात इधर उधर से सुन लेते हैं उसी को पल्ले बाँध लेते हैं। गायन को गायक ही परख सकता है, गँवार तो उसे हाहा के सिवाए और कुछ समझता ही नहीं। सोने चाँदी को परखना सुनार का काम है, साधारण मनुष्य सोने और पीतल में, चाँदी और कलई में कुछ भेद नहीं कर सकता, हीरे और मोती को जौहरी ही परख सकता है। साधारण मनुष्य को क्या मालूम कि चमकती हुई वस्तु मोती है या शीशा। जब लार्ड लारेंस ने पञ्जाब को अपने अधिकार में किया तो उसे कोहनूर हीरा लेने की फ़िक्र हुई। उसे ऊपर से आदेश हुआ था कि वह हीरा लेकर इंगलैण्ड भेज दे। लार्ड लारेंस ने इधर उधर बहुत खोज की, बहुत पूछताछ की, परंतु हीरे का कुछ पता न मिला। उस के मन में कई संदेह हुए और साथ ही भय हुआ कि सम्भवतः मुझ पर धोखे का संदेह भी किया जाय। उस के बहरे ने हीरे को साधारण वस्तु समझकर कहीं रख दिया था। वह बेचारा क्या जानता था कि छोटे-से चमकीले पत्थर में कई शाही वंशों के इतिहास छिपे हैं।

धर्मोपदेश देने के लिए प्राचीन काल में अधिकार का नियम काम करता था। उपदेश करनेवाला गुरु सदा यह देखता था कि आया श्रोता उस की बात को समझने की योग्यता रखता है वा नहीं, और आया वह एक बात को जानने का अधिकार भी रखता है वा नहीं। आजकल व्याख्यानों का तरीक़ा जारी हो गया है। और वह भी इस हद तक कि जहां कहीं जलसा होता है व्याख्यानों की भरमार हो जाती है। श्रोतागण सिवाए इस के कि दो चार दिन तक यह स्मरण रक्खें कि अमुक महाशय अच्छे बोले थे और उन के समय हाज़री बहुत थी और कुछ ध्यान में नहीं रख सकते। ऋषियों द्वारा लिखी हुई वे बातें, जो उन के वर्षों के मनन और तप का फल थीं, यों ही उन लोगों के सामने फेंक दी जाती हैं, जिन की वे क़दर नहीं करते।

आर्यसमाज क्या थी? स्वामी दयानन्द ने उसे जिन लोगों के हाथ में सौंपा था, उन्हों ने उसे क्या समझा? किस प्रकार उस के उद्देश्य को पूर्ण करने का यत्न किया? ये प्रश्न हैं, आधे शतक के बाद जिन को पूछने का हम पूर्ण अधिकार रखते हैं। इस काल का लगभग दो तिहाई भाग मुझे आर्यसमाज के साथ रहने का अवसर मिला है। और निश्शंक मैं यह कह सकता हूँ कि जिन सज्जनों के हाथ में पञ्जाब की आर्यसमाज की बागडोर थी, वे अपने उद्देश को समझते थे। उन्हें पूर्ण ज्ञान था कि स्वामी दयानन्द के आंदोलन का

असली मतलब क्या है। परन्तु इस बात में मुझे सन्देह है कि उन को यह भी ज्ञात था कि उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्या साधन है? इस में उनका दोष न था। वे सब मानते थे कि उन का धर्म संस्कृत और हिन्दी की उन्नति से बँधा है। वे इस बात का प्रचार भी करते थे कि हिन्दी भाषा में हिन्दू जाति का बचाव है। यही उनकी जातीय और राष्ट्रीय भाषा है। परन्तु उन का आचरण कैसा था? आचरण में मनुष्य उतना ही स्वतन्त्र होता है जितना विचार में।

दिल से वे हिन्दी के साथ थे, परन्तु उन्होंने कई समाचार-पत्र अंगरेज़ी में निकाले, आर्यसमाजिक प्रचार सम्बन्धी कई पुस्तकें अंगरेज़ी में प्रकाशित कीं। नेताओं का अंगरेज़ी में विचार प्रकट करना स्वभावतः हिन्दी-हिन्दुस्थानी को नीचा दिखाना था। जलसों पर व्याख्यान अंगरेज़ी में, विज्ञापन और कार्यक्रम अंगरेज़ी में, संस्कारों के निमन्त्रण-पत्र अंगरेज़ी में, यहां तक कि मास्टर दुर्गाप्रसाद जैसे आर्यसमाजियों को यह आवश्यकता होती थी कि जनसाधारण को सन्ध्या और पञ्चमहायज्ञविधि के अर्थ भी अंगरेज़ी भाषा में बनाने चाहिएं। ताकि अंगरेज़ी पढ़ेलिखे मनुष्यों पर उन का अधिक प्रभाव पड़े। यह कहना ठीक नहीं कि यह सब कुछ अन्य लोगों के लिए किया जाता था, प्रत्युत बात यह थी कि यह मण्डल अंगरेज़ी साहित्य में जज़ब हो चुका था।

आर्यसमाज के नियमों और उपनियमों से तो यह प्रकट होता है कि उन के बनानेवालों का विचार यह था कि समस्त पञ्जाब के हिन्दू रूपी मनके एक बड़े संगठन रूपी तागे में पुरोए जाएं। परन्तु वह काम पीछे पड़ गया। इस के कई कारण थे।

ब्राह्मणों ने इस भय से कि कहीं आर्यसमाज सब हिंदुओं को अपने अन्दर न मिला ले हिंदुओं पर अपना दबाव डाला और उसे रोकने के लिए उन्हों ने सनातनधर्म सभाएं स्थापित कीं। अपने काम को चलाने के लिए आर्यसमाजों ने उन के साथ शास्त्रार्थ किए। यह विरोध आर्यसमाज के लिए अपने घरवालों की ओर से था। इसी समय स्वामी दयानन्द का देहान्त हो गया। स्वामी जी की मृत्यु से उनके काम को धक्का लगना स्वाभाविक था। आर्यसमाज का विचार हुआ कि स्वामी दयानन्द का कोई स्मारक खड़ा किया जाय। मैं समझता हूँ आर्यसमाज के उद्देश्य के लिए यह समय बहुत बुरा साबित हुआ क्योंकि नन्ही-सी आर्य-समाज ने अपने काम को तो परे रख दिया और जोश तथा शोक प्रकट करने के लिए स्मारक बनाना अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ लिया दयानन्द कालेज स्थापित करने का उत्तरदायित्व किसी विशेष व्यक्ति के कंधे पर रखना अनुचित होगा, क्योंकि इस भार को उठाने के लिए, उस का प्रवर्त्तक चाहे कोई हो, सारी आर्यसमाज उत्तरदायी थी।

दयानन्द कालेज बनाने का अर्थ स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि यूनिवर्सिटी द्वारा स्थापित की गई शिक्षा-प्रणाली को फैलाने का साधन आर्यसमाज बने। तब वे लोग समझ न सके कि यह बात ऐसी ज़बरदस्त निकलेगी कि वास्तविक आर्यसमाज और उसके उद्देश्य को भी हज़म कर जायगी।

उस समय आर्यसमाज को दो बड़े काम दिखाई पड़ते थे। कुछ लोग यह समझते थे कि आर्यसमाजिक सिद्धान्त जगत्मान्य हैं। इस लिए इन के प्रचार द्वारा यत्न करना चाहिए कि न केवल भारत ही प्रत्युत समस्त संसार उन को मानने लग जाय, और आर्यसमाज एक जगत्विख्यात चर्च बन जाय। ऐसे उत्साही मनुष्य प्रायः नए मत या सभा के आरम्भ में ही पाए जाते हैं। वे नहीं समझ सकते हैं कि एक धर्म किस उद्देश्य को सामने रखकर चलाया जाता है। कुछ दूर ही चल कर वे थक गए। तब उन्हें मालूम हुआ कि उन का काम कोई आसान खेल न थी।

आर्यसमाज का सब से बड़ा सिद्धान्त मूर्त्तिपूजा-खंडन है। यह तो सम्भवतः सनातनधर्मी भी मान लेंगे कि ईश्वर की कोई मूर्त्ति नहीं हो सकती। परन्तु समझ नहीं आता कि राम कृष्ण आदि की मूर्त्तियां बनाने और उनके मन्दिर खड़े करने में क्या दोष है? मैं एण्डेमन जेल में था। मूर्त्तिपूजा के लिए मेरे अन्दर कोई श्रद्धा नहीं। परन्तु भगवद्गीता के चिन्तन करने से मेरे अन्दर कृष्ण के लिए विशेष श्रद्धा और

भक्ति उत्पन्न हो गई। मुझे एक रंज था कि मैं ने वृन्दाबन के दर्शन न किए और एक इच्छा थी कि यदि छूट जाऊँ तो वृन्दाबन के तो अवश्य दर्शन करूँ। मैं अपने आन्तरिक भाव प्रकट नहीं कर सकता, इतना ही पर्याप्त है कि वृन्दाबन की मिट्टी का प्रत्येक कण भी मेरे लिए पूजा के योग्य था। क्या मालूम इस कण के साथ कृष्ण के पाँव छूए हों। मुझे बार बार स्मरण आता था—

ख़ाके वतन का ज़र्रा मेरे लिए देवता है।

क्या हम ने महा पुरुषों के चित्र रखने छोड़ दिए हैं? यह मान लिया कि ये अवतार न होंगे किन्तु उन में परमात्मा की शक्ति तो सब से बढ़कर प्रकट होता है। यदि राम या कृष्ण का उस शक्ति को अवतार कह दिया तो कौन-सा पाप हो गया? राम हिन्दू जाति का सब से पहला वीर है, जिस ने इस देश को दक्षिण में लंका तक राक्षसों से ख़ाली किया। सम्भवतः सीता का अर्थ केवल भूमि हो, जिसे राक्षसों ने दबा लिया था। रामचन्द्र ने यह भूमि अपनी जाति के लिए उन से छीनी। वाल्मीकि ने उस के जन्म से ही प्रकट किया है कि रामचन्द्र भी उपरोक्त उद्देश्य के लिए उत्पन्न हुआ था। जहां कहीं राम की विजय होती थी, ऋषि पुष्प-वर्षा करते थे। राम की नीति देखिए। राक्षसों के मध्य से उन के मनुष्यों को ही अपने साथ सम्मिलित कर के उन्हें विजित किया।

कुछ लोगों के विचार में आर्यसमाज सम्भवतः एक नया मत था। उस का उद्देश्य स्वामी दयानन्द के बताए सिद्धान्तों का प्रचार था। यह भाव उस दल में अधिक था, आर्यसमाज के दो दल होने पर जिसे 'महात्मा पार्टी' (गुरुकुल दल) का नाम दिया गया।

दूसरा कार्य आर्यसमाज के सामने हिन्दुओं की सामाजिक कुरीतियों का सुधार था। आर्यसमाज ने बाल-विवाह के विरुद्ध ब्रह्मचर्य के लाभ पर, अछूतों के उद्धार पर, विधवाओं के दुखड़ों पर और शुद्धि के लाभ पर व्याख्यान दिए। सनातनधर्म सभाओं का तो काम ही आर्यसमाज का विरोध करना था। परन्तु इन सुधारों का विरोध करना सनातनधर्म सभा का न सिद्धान्त था, न धर्म। कई वर्ष गुज़र गए हैं। आज आर्यसमाज का विरोध नहीं रहा। वह सब सुधार सनातनधर्म सभा करने पर तैयार है। आर्यसमाज यद्यपि इन सुधारों का प्रचार करती रही, परंतु हिंदुओं की सहायता के बिना उसे सफलता बहुत कम हुई। आज सनातनधर्म सभाओं के सम्मिलित हो जाने से हम साफल्य की आशा कर सकते हैं। केवल शर्त यह है कि हम सब मिल कर इन सुधारों पर डट जाएं। इस का एक अच्छा नतीजा निकला है—सामाजिक सुधार का काम आर्यसमाज के घेरे से बाहर हो गया है।

मैं समझता हूँ कि आर्यसमाज का काम न किसी मत का

प्रचार करना है, न केवल सामाजिक कुरीतियों का सुधार करना। ये काम भी साथ साथ किए जा सकते हैं। परन्तु इस का वास्तविक उद्देश तो वैदिक धर्म की रक्षा करना अर्थात् देश में दुबारा वैदिक जीवन लाना है। सारांश यह कि इसे सच्चे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और संन्यासी उत्पन्न करने हैं। आर्यसमाज गत वर्षों में इस बात पर ज़ोर देता रहा है कि वेद ईश्वरवाणी है। परन्तु जो कुछ उस में लिखा है उस पर आचरण करने की ओर वह एक इंच भी आगे नहीं बढ़ा। वैदिकधर्म यह नहीं बताता कि वेद को केवल मानने से किसी मनुष्य की मुक्ति हो सकती है या कोई जाति धर्म में उन्नति कर सकती है। आर्यधर्म का उपदेश तो व्यावहारिक जीवन है। यदि हिंदू वेद के आदेश पर आचरण न करेंगे तो वेद को ईश्वरीय मानना उन के किसी काम न आयगा। आर्यसमाज में यह उदाहरण दिया जाता है कि मिस्री कहने से मुँह मीठा नहीं होता। इसे प्राप्त करने और मुँह में डालने का यत्न करना चाहिए। स्वामी दयानंद ने वर्णधर्म, राजधर्म और आश्रम-धर्म पर अपनी पुस्तकों में बहुत कुछ लिखा है। आर्यसमाज न मत फैलाने से फैलेगा न सामाजिक सुधार करने से प्रत्युत प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था दुबारा स्थापित करने से वह अपने उद्देश्य को पूर्ण कर सकता है। दयानन्द कालेज बनाने का नतीजा क्या हुआ? आर्यसमाज को इसे बनाने

के लिए रुपए की बड़ी आवश्यकता हुई। धनवानों का आर्यसमाज में मान होने लगा। दानी पुरुषों का आदर करना बुरा नहीं। परन्तु यहां तो धर्म का भी अधिकार इन्हीं लोगों के हाथ में चला गया है। हमारे देश में अंगरेज़ों का राज्य होने से धन कमाने का एकमात्र साधन यही है कि किसी प्रकार सरकार की सहायता से लाभ उठाया जाय। आर्यसमाज के अन्दर भी यही इच्छा उत्पन्न होगई। अब आर्यसमाजी समझने लगे कि वकील और डिप्टी बनना या बनाना ही धर्म का काम है, और इसी से आर्यसमाज में भी मान होगा। निःसन्देह वर्त्तमान सरकारी शिक्षा-प्रणाली हम को रोटी कमाने के अधिक योग्य बना देती है। और इस के द्वारा अशिक्षितों की अपेक्षा हमारी मानसिक अवस्था भी अच्छी होजाती है। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह शिक्षा जातीय या धार्मिक उन्नति के लिए भयावह है। कुछ लोग कहते हैं—इस में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है जब कि यह भी विद्या है और विद्या-प्रचार मनुष्य-धर्म है। ऐसा कहना मूर्खता जताना है। सच्ची विद्या वह है, जिस के द्वारा धर्म के सच्चे मार्ग का ज्ञान हो। जो शिक्षा हमारी जाति में से जातीयता नष्ट करने-वाली है वह विद्या कहलाने योग्य नहीं, उसे तो अविद्या कहना चाहिए।

दयानन्द कालजों से सच्चे ब्राह्मण या क्षत्रिय उत्पन्न करने

की आशा करना ऐसी ही चेष्टा थी जैसे कि आक के पौधे से आम की आशा करना। हिन्दू विश्वविद्यालय काशी ने सब पुराने पण्डितों को तो नौकर रख लिया है। परन्तु वहां उन का ऐसा अनादर होता है कि प्रत्येक संस्कृत का विद्यार्थी अंगरेज़ी ही पढ़ना चाहता है। उसे अपनी अवस्था देखकर दुःख होता है। अनादर कैसे? यूनिवर्सिटी में ग्रीष्म-अवकाश के दिन आते हैं। प्रिंसिपल की ओर से विज्ञप्ति अंगरेज़ी में लिखी हुई आती है। पण्डितों के नाम अंगरेज़ी में लिखे होते हैं। पण्डितों को विज्ञप्ति पढ़ाने के लिए अंगरेज़ी पढ़े विद्यार्थियों से प्रार्थना करनी पड़ती है: अपने काम के लिए उन से पूछना पड़ता है। वे पण्डित जो इस देश के समस्त साहित्य के रक्षकों के उत्तराधिकारी हैं, एक विदेशी भाषा—परन्तु हां राजभाषा अंगरेज़ी न जानने से अपने आप को बच्चों से बढ़कर मूर्ख पाते हैं। यह हमारा हिन्दू विश्वविद्यालय है। इसका नाम यदि 'अंगरेज़ी विश्व-विद्यालय' होता तो क्या हर्ज था? दयानंद कालेज बना कर आर्यसमाज सरकारी शिक्षा का ग़ुलाम बन गया, और उस ने अपना धर्म इस शिक्षा के फैलाने के लिए त्याग दिया।

क्योंकि कालेज के साथ सांसारिक अधिकार भी पाया जाता है, इस लिए अधिकारियों में उस की इच्छा प्रबल है। इसी अधिकार के लालच ने आर्यसमाज के दो टुकड़े कर

दिए। इन मनुष्यों ने, जो मृत्यु को मारने चले थे, लोभ में पड़ कर एक दूसरे का वध कर डाला। आर्यसमाज, जो आर्यधर्म स्थापित करने के लिए उठा था, संसार के प्रलोभन में पड़कर स्वयं फूट का शिकार हो गया। यदि यह लोभ न होता तो आर्यसमाज का नेता वह होना चाहिए था, जिस की विद्या और तप केवल धर्मप्रचार में या शास्त्र के ज्ञान-प्रसार में खर्च हुआ होता। ईर्ष्या प्रायः सांसारिक शक्ति प्राप्त करने के लिए हुआ करती है। यद्यपि आर्यसमाज के एक दल ने गुरुकुल बनाया परन्तु आर्यसमाज पर राज्य करनेवाला एक अन्य सांसारिक दल था। इन की उपस्थिति में गुरुकुल के विद्यार्थियों का आदर्श भी अधिकतर सांसारिक ही बनता गया। नहीं तो स्वाभाविक यह था कि गुरुकुल के स्नातकों में से कुछ तो अवश्य अपने कर्त्तव्य को समझते, और स्थान स्थान पर आर्यसमाजें अपनी सन्तान उन के सुपुर्द करके उनकी सेवा का पूरा प्रबन्ध करतीं। आर्यसमाज में भाव ही दूसरा है। इसने धर्म और विद्या को दुकानदारी बना लिया है। ब्राह्मण हो या आचार्य आर्यसमाज उस को अपने आधीन नौकर रख कर उस से धर्मप्रचार और विद्यादान का काम लेना चाहती है। आर्यसमाज के अध्यक्ष हर हालत में वकील और रुपएवाले ही रहे। वेतनभोगी उपदेशक ब्राह्मण नहीं हो सकते। वेतनभोगी पढ़ाने वाले आचार्य नहीं हो सकते। गुरुकुल के स्नातकों को वेतन पर

नौकर रखना उनकी आत्मा को गिराना है। वे भी समझते हैं कि यदि वे वकील या क्लर्क होते तो उपदेशों के अधिष्ठाता बन सकते थे। इनकी क़द्र आर्यसमाज में तब हो जब कि आर्यसमाज उन को वेतन की जगह दक्षिणा भेंट करे। यह भाव आर्यसमाज में कब आएगा?

इस प्रकार की संस्थाएं स्थापित करने के बाद आर्य-समाज ने रुपया माँगना शुरू किया। जगह जगह आर्यसमाज के नियुक्तजन फिरने लगे। लोगों का स्वयं दान देने का स्वभाव जाता रहा। दान वह होता है, जो श्रद्धा से दिया जाए। इस प्रकार ज़ोर डाल कर माँगने से माँगनेवालों का दर्जा साधारण भिखारियों का सा हो गया और दान देने-वाले अपने आप को बहुत ऊँचा समझने लगे। माँगनेवालों का यह स्वभाव एक बुराई की हद तक आ पहुंचा। उन का लोभ इतना बढ़ गया कि इन्हें यह ख़्याल ही न रहा कि वे मर्य्यादा धर्म से गिर रहे हैं।

जातीय नीति

अमरीकनों ने दो बड़े युद्ध किए। उनका पहला युद्ध अपनी जन्म-भूमि इंगलैण्ड के विरुद्ध था, जिस के बाद उन्हों ने इंगलैण्ड की अधीनता से छुटकारा पाया। उनका दूसरा युद्ध लगभग एक सौ वर्ष के बाद हुआ। वह

घरेलू युद्ध था। इस में अमरीका की रियासतें दो दलों में बँट गईं। उत्तरी रियासतें एक ओर और दक्षिण दूसरी ओर हो गईं। दोनों में बड़े ज़ोर का युद्ध हुआ। हज़ारों मनुष्य मारे गए। और डेढ़ दो वर्ष तक-समस्त देश की आँखें इसी ओर लगी रहीं। इस युद्ध का कारण बड़ा चिताकर्षक है। सम्वत् १६१७ में अमरीकामें हबशियों को गुलाम रखनेकी अनुज्ञा थी। उत्तरी रियासतें अधिकतर कारखानेदारों की थीं। वे आज़ाद मज़दूरी का अच्छा समझती थीं। दक्षिणी रियासतों में ज़मींदार रहते थे। वे गुलामों के बिना गुज़ारा न कर सकते। उत्तरी रियासतों के प्रतिनिधि गुलामों को स्वतन्त्र करने के पक्ष में थे। दक्षिणी रियासतों के प्रतिनिधियों के विरुद्ध कांग्रेस ने बहुमत से स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास कर दिया। दक्षिणी रियासतें गवर्नमेंट से पृथक् हो गईं। और उन्हों ने अपनी जुदा गवर्नमेंट बना ली। कांग्रेस कुछ रियासतों का पृथक्त्व सह न सकी। उसने सोचा कि आज ये दो रियासतें पृथक् हो रही हैं, कल किसी और मामले पर यदि अन्य दो रियासतें बिगड़ बैठेंगी और जुदा गवर्नमेंट बना लेंगी, तो इससे देश टुकड़े टुकड़े हो जायगा। उसने उत्तर दक्षिण को साथ रहने पर मजबूर किया। निःसन्देह दक्षिणी रियासतों को ऐसा करना देश से द्रोह करना था: यह काम जातीय नीति के दृष्टिकोण से बड़ा पाप था, तो भी जो मनुष्य ऐसे में सम्मिलित हुए, हम उन्हें बुरा या भला नहीं कह सकते।

जापान के वर्त्तमान आँदोलन में एक घटना हुई। गत शताब्दी के मध्य में जापानियों ने अनुभव किया कि पश्चिमी जातियां बड़े जोश से अपने व्यापार के लिए अपने जहाज़ लिए उन के देश में आ रही हैं। जापान को इन विदेशियों से भय हुआ। एक दो अवसरों पर उनके जहाज़ों के साथ जापानियों की मुठभेड़ भी होगई। भयभीत जापान को इसका फ़िक्र हुआ। जापान का राज्य कई छोटे सरदारों में बँटा था। यह सब सरदार विचार के लिए एकत्र हुए। उन का विचार हुआ कि जापान का बचाव इस में है कि समस्त देश का शासन एक राजा के हाथ में हो। सरदारों का त्याग अद्वितीय था। सब ने अपना अपना राज्य अपने बड़े सरदार मकेडो के हाथ में दे दिया और उसे देश का अधि-राज स्वीकार किया। सरदारों का यह काम जातीय-नीति की पवित्रता थी।

हमारे देश पर आक्रमणकारियों ने आक्रमण आरम्भ किए। वे कई शताब्दियों तक जारी रहे। यहां के सब राजाओं को एक न एक बार उनका मुक़ाबला करना पड़ा। यदि पंजाब लड़ता था तो मुलतान और कांगड़ा सुख की नींद सोते थे। यदि दिल्ली पर आक्रमण होता था तो अजमेर चुपचाप बैठा रहता। इन सब राजाओं को मालूम था कि उनकी साथ की रियासत पर शत्रु ने चढ़ाई की है। परन्तु वे अपने अपने सुख में मस्त रहते। उनका वह सुख कैसा था? वैयक्तिक

दृष्टि से वह बुरा था या भला परन्तु जातीय दृष्टि से वह अक्षम्य पाप था!

बच्चा जब कोई भूल करता है, तब छोटे होने से उसका कोई बड़ा प्रभाव नहीं पड़ता। आयु में बड़ा मनुष्य जब कोई भूल करता है तब वह बच्चे से अधिक हानिकर होती है। जब दूसरे मनुष्य से भी अधिक उत्तरदायी मनुष्य भूल करता है तब उसका परिणाम बहुत बुरा होता है। जब जाति का एक भाग सामष्टिक दृष्टि से पाप करता है तब वह अपनी समस्त जाति की हानि करता है। केवल यही नहीं दोनों अवस्थाओं में बड़ा अंतर यह है कि जातीय पाप का दण्ड मिलते समय भले या बुरे मनुष्य की कोई पहिचान नहीं रहती। अच्छे या बुरे नतीजे को सब लोग एक-से भोगते हैं। कन्नौज के जयचंद्र ने जो देशद्रोह किया, उसका परिणाम देश का विनाश हुआ। इस सर्वनाश का शिकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी हुए। मान-सिंह अकबर के साथ जा मिला। उस ने हिन्दू जाति के गर्व को तोड़ दिया। जातीय नीति को गिराने में जयपुर-नरेश ने भी वैसा ही प्रयत्न किया, जैसे उदयपुर के राणा उसकी रक्षा के कारण प्रसिद्ध हुए। हमारा जीवन दो प्रकार का होता है—एक व्यक्तिगत दूसरा सार्वजनिक। कई मनुष्यों में व्यक्तिगत जीवन अधिक होता है। उनके कार्य का प्रभावक्षेत्र भी सावधिक होता है। अन्य कई ऐसे होते हैं, जिन के जीवन

का अधिक भाग जनता के लिए व्यतीत होता है। धार्मिक या राजनैतिक सभाओं के नेताओं के जीवन सार्वजनिक जीवन होते हैं। उन के सब कार्य निजी नहीं होते, प्रत्युत उन की गवर्नमेंट या सभा के समझे जाते हैं। उन मनुष्यों के व्यक्तिगत जीवन में न्याय, सरलता और सचाई अधिक पाई जाती है। इसी का फल यह होता है कि सभा उन्हें अपना नेता मानने लग जाती है। उन के आत्मीय गुणों का बदला तो उन्हें मिल गया। जैसे सांसारिक मनुष्यों को धन मिल जाता है, क्षत्रियों को अधिकार मिल जाता है, उन नेताओं को मान और प्रतिष्ठा मिलती है। अब उन के लिए दूसरा बड़ा उत्तरदायित्व आरम्भ होता है। वे अपने मान प्रतिष्ठा का क्या प्रयोग करते हैं ? सार्वजनिक होने से उन के कामों से कई परिणाम निकलते हैं। अपने कर्मों से वे अपनी सभा को ऊँचा भी कर सकते हैं और नीचे भी। नेतृत्व के लिए विशेष गुणों की आवश्यकता होती है।

समुद्र हो। उस में तूफ़ान आ रहा हो। तूफ़ान में एक जहाज़ फँसा हो। जहाज़ की अपनी और यात्रियों की जान कप्तान के हाथ में होती है। कप्तान यदि सरल-स्वभाव, भद्र और सत्यवादी हो किंतु साहसी न हो तो वह जहाज़ को नहीं बचा सकता। यदि उस में अव्याकुलता और चित्त-स्थैर्य नहीं तो सब के नाश का उत्तरदायी वही होगा। उस की कायरता में सब की मृत्यु है। इसी प्रकार रणक्षेत्र में

कायर या अयोग्य सेनानायक अपनी सारी सेना के नाश का कारण होता है । सेना का नाश जाति तथा देश पर विपत्ति लाता है । वास्तव में कप्तान या सेनानायक का काम केवल उस का अपना ही नहीं होता । जो लोग उन्हें ऐसे पद पर नियुक्त करते हैं, वे सभी उन (कप्तान आदि) के काम के लिए उत्तरदायी होते हैं । जो समाज किसी अयोग्य मनुष्य को नेता बनाता है, वह ऐसा करने में उन सब कामों का बोझ अपने सिर पर लेता है, जो वह भविष्य में करेगा ।

दुर्योधन का लोभ एक व्यक्ति का लोभ था । परंतु उस ने समस्त देश का सत्यानाश कर दिया । दुर्योधन के काम के लिए वे सब लोग ज़िम्मेवार हैं, जिन्हों ने उसे अपना राजा बनाया । जब एक राजा पापी होता है तब वे सब लोग, जो मिल कर उस की शक्ति बनाते हैं, उस के काम के उत्तरदायी होते हैं । यह ज़रा गहन विषय है । स्वार्थ और सुख में फँसे हुए लोग तो इस ओर ध्यान ही नहीं कर सकते । कई बार बड़े बड़े धीमान् मनुष्य इस भूल में पड़े रहते हैं । भीष्मपितामह से बढ़ कर धीमान् कौन हुआ या होगा ? किंतु वही भीष्म दुर्योधन की भूल को सुधार न सका । उस ने स्वयं स्वीकार किया कि मैं स्वार्थ में फंसा हुआ दुर्योधन की तरफ़दारी करता रहा । जब शर-शय्या पर लेटा हुआ भीष्म उपदेश दे रहा था कि जिस सभा में धर्म या न्याय न हो, वहां से उठ जाना चाहिए । तब द्रौपदी ने प्रश्न

किया—'आपने क्यों न ऐसा किया'। पितामह ने उत्तर दिया कि पाप का अन्न खाने से मेरी बुद्धि मलीन हो गई, जिस से उस पर परदा छा गया। महाभारत के और उस से कुल के सर्वनाश का भीष्म वैसा ही ज़िम्मेवार था जैसा दुर्योधन।

मैं ने भारतीय इतिहास से यह बात सिद्ध की है कि क्या दक्षिण, बङ्गाल, महाराष्ट्र या पञ्जाब सभी जगह हमारे ही राजा और नेता थे, जिन्हों ने स्वार्थवश अंगरेज़ों से सहायता की प्रार्थना की। वे इस नीति को समझते ही न थे, कि जो लोग किसी की सहायता करके उसे सिंहासन दिलाते हैं, वे सिंहासन दिलानेवाले होते हैं और वास्तव में सिंहासन के पति ही वही होते हैं। हमारे वे नेता स्वार्थ से अँधे थे। उनका यह काम निजी न था प्रत्युत सार्वजनिक ऐसा क़दम उठाकर उन्हों ने वह काम किया, जिस के दाम उन के देश और जाति को चुकाना पड़ा। अंगरेज़ी सेना को पञ्जाब पर हमला करते समय फ़ीरोज़पुर का रास्ता न पता था। पहाड़ासिंह नामक एक जाट सरदार ने अंगरेज़ों पर कृपा की और साथ होकर रास्ता दिखाया। पञ्जाब को जीतने के बाद फ़रीदकोट का इलाक़ा उसे बदले में दिया गया। वह तो वैसा ही सिक्ख बना रहा परन्तु उस ने सिक्ख राज्य की जड़ों पर कुल्हाड़ा चला दिया। यदि इस देश के नेता ऐसी भूलें भूत में करते रहे तो क्या आश्चर्य

है, जो अब भी ऐसा करते हों ? आर्यसमाज के बालकों ने देखा सरकारी शिक्षा प्राप्त करने से वकालत, धन, मान और प्रतिष्ठा मिलती है । इन्हों ने यह भी देखा कि पञ्जाब के लोग अँधाधुंध दौड़ में इस शिक्षा के पीछे चल पड़े हैं, इसलिए चलो, उन की इस सदिच्छा के हम पूर्ण करें और पुण्य कमा कर स्वर्ग में प्रवेश करें। उन्हों ने इस बात का विचार तक न किया कि यह अन्न कैसा है, जिस के लिए हम अपने बच्चों को तैयार कर रहे हैं ? न ही उन्हों ने यह देखा कि यह शिक्षा उन के धर्म को जड़ों से उखेड़ रही है । सार्वजनक पाप का परिणाम सारी जनता के लिए होता है । हमें मालूम न था कि हम किस मार्ग पर जा रहे हैं । बहुत समय न बीतेगा जब कि हम इन्हीं बातों को अनुभव करेंगे । शिक्षा-प्रणाली एक जातीय कार्य है । सामाजिक, राजनीतिक और व्यापारिक स्थिति के अनुसार प्रत्येक जाति की अपनी विशेष आवश्यकताएं होती हैं, जिन्हें पूर्ण करना शिक्षा-प्रणाली का वास्तविक धर्म होता है । अमेरिका है । जापान है । उन के नीतिज्ञ जातीय आत्मा हैं । वे जानते हैं और सोचते हैं कि उन की जाति को क्या करना है, किधर जाना है, और क्या बनाना है । उन के अनुसार वे अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं । हमारे हां जाति या समाज अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते । केवल अंगरेज़ी गवर्नमेंट है, जो एक चेतन शक्ति है । वही अपना हानिलाभ

सोच सकती है। अपना मतलब पूरा करने के लिए उस ने ही यह शिक्षा-प्रणाली निकाली है। हमें देखना यह है कि इस शिक्षा का जाति पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस्लामी राज्य हुआ, लोगों ने पाण्डित्य छोड़ा, तब फ़ारसी भाषा का वैसा ही सन्मान था, जैसे आज अंगरेज़ी का है। इस देश के विद्वानों ने मसजिदों और मकतबों में शिक्षा पाई थी। उन को हाफ़िज़ और सअदी ऐसे ही प्यारे मालूम होते थे, जैसे आजकल के शिक्षितों के लिये शेक्सपीयर और मेकॉले हैं। अब तक पुराने पढ़ेलिखे बोलने और लिखने में फ़ारसी के शेर कहना और उन के हवाले देना बड़ी योग्यता समझते हैं। मैं समझता हूँ कि हम वर्त्तमान शासन की विजय के कारण अंगरेज़ी बहाव में बहे जा रहे हैं। इस में धक्का देनेवाले भी हमारे ही नेता हैं।

मज़हब एक और बड़ी शक्ति है। जैसे जहाज़ और सेना के नायक अपने अधिकार का बुरा या भला प्रयोग कर सकते हैं, जैसे राजनैतिक बल के प्रतिनिधि के रूप में एक राजा जातीय जीवन को बचा सकता है या नष्ट कर सकता है, ऐसे ही एक धार्मिक नेता भी अपनी शक्ति को जातीय हित या अहित में लगा सकता है। धार्मिक नेता में सब से आवश्यक गुण यह होता है कि वह सांसारिक शक्ति के प्रति निर्भयता और दुःख सहन करने की शक्ति रखता है। रोम में जब ईसाई धर्म के नेताओं को कष्ट सहन करने प

तभी ईसाई धर्म फल लाने में समर्थ हुआ। हिन्दू तपस्वी और योगी थे, जिन्हों ने सिकन्दर जैसे बादशाह के राजबल की तनिक परवा न की। गुरु अर्जुन सिक्ख नेता था, जो मुग़ल बादशाह की शक्ति के मुक़ाबले पर निर्भीक खड़ा हो गया।

लकड़ी और लोहे का उदाहरण सभी जानते हैं। बन में वृक्ष रक्षित रहते हैं। परंतु जब स्वयं उन के अपने भाई कटकर लोहे के साथ जा मिलते हैं और कुल्हाड़े का दस्ता बनते हैं तब उन वृक्षों के बचने की कोई सूरत नहीं रहती। जो लकड़ी लोहे से मिलकर वृक्षों को काटने के काम आती है, जातीय नीति के अनुसार वह एक महापाप की भागिनी बनती है। घर के भाई होते हैं, जिन के द्वारा लंका जैसा गढ़ विजित हो जाता है। जिस देश और जाति में उन भाइयों की अगणित संख्या है, जो प्रतिक्षण शत्रु के साथ मिलने पर तैयार हों, उस के बचने की कोई आशा नहीं। इस्लामी आक्रमणों के समय अनेक हिंदू ऐसे थे, जो शत्रु के साथ मिलकर अपने भाइयों को काटने पर तैयार हो गए। उन को रोकने का क्या उपाय हो सकता था? उस समय यह छूतछात सर्वत्र फैल गई। ऐसे मनुष्यों के साथ मिलना-जुलना, उठना-बैठना या कोई और सम्बन्ध रखना अपने धर्म को भ्रष्ट करना समझा गया। हिन्दुओं ने अपने आप को बचाने के लिए इन घर के शत्रुओं के विरुद्ध छूतछात का क़िला

मज़बूत बना लिया । चाहे कूतछात अच्छी है या बुरी तब इस ने क़िले का काम अवश्य किया और हिन्दू धर्म एक बार तो नष्ट होने से बच गया ।

भारी कठिनाई

अपनी समुद्र-यात्रा की एक घटना मुझे कभी नहीं भूलती । फिरता फिराता मैं ब्रिटिश गायना में भी जा पहुंचा । यह प्रदेश उत्तरीय अमेरिका के उत्तर में वेस्टइंडीज़ के साथ मिला हुआ है । अंगरेज़ों का यह नया उपनिवेश है । इस में भी कोई डेढ़ लाख भारतीय हैं, जो मज़दूरों की भरती में वहां ले जाय गए । हिन्दुस्थानी कुली वहां पर सम्वत् १८६७ से चले आते हैं । अब वहां उनकी कई संतानें हैं, जिन में अधिक संख्या हिन्दुओं की है । कइयों की उन में से आर्थिक दशा बड़ी अच्छी है । उन में जितने अशिक्षित हैं वे सब ईसाई बन रहे हैं । मैं ने देखा कि उन भारतीयों को अपनी मातृभूमि–भारत का कोई ज्ञान ही नहीं है । उनका ध्यान इस ओर करने के लिए मैं ने वहां पर कुछ व्याख्यान देने आरम्भ किए । वहां पर कुछ मुसलमान भी थे । वे सब एक बार एक स्थान पर इकट्ठे हुए और अपने धर्म की चर्चा करने लगे । एक मुसलमान कुली खड़ा हुआ और सब को सम्बोधित करके कहने लगा—'क्या तुम जानते हो कि

वास्तव में तुम सब हिन्दू पूर्वजों की सन्तति हो ? क्या तुम जानते हो कि अरबो आदि विदेशी आक्रमणकारियों ने तलवार के बल से तुम्हें मुसलमान बनाया ? यदि तुम में आत्म-अभिमान है, तो क्या तुम समझते हो कि तुम्हें क्या करना चाहिए ? यदि नहीं, तो मैं तुम्हें बताता हूँ । तुम्हें मरदों की तरह अपने पूर्वजों का बदला लेना चाहिए । जिस प्रकार विदेशियों ने आकर तलवार से तुम्हें मुसलमान बनाया तुम भी एक सेना बनाओ और उन विदेशियों को उसी प्रकार हिन्दू बनाओ' । ये शब्द सुनते ही सब लोग हक्केबक्के हो गए । उसे काफ़र कहकर सब ने बैठने को कहा । वह भी बड़ा बलवान् था, डंडा लेकर मुक़ाबले के लिए खड़ा हो गया । वह बैठक उस समय के लिए समाप्त होगई ।

ये शब्द कड़ुए अवश्य हैं । परन्तु सत्य सदा ही कड़ुआ होता है । क्या मुसलमान यह विचार नहीं करते कि वे हिन्दुस्थान में उत्पन्न हुए हैं । उनका मक्का के साथ क्या सम्बन्ध है, सिवाए इसके कि अरबियों ने भारतवर्ष पर आक्रमण करके भारतीयों को मुसलमान बनाया और उन के अन्दर अरबी कथाओं का प्रचार किया ? हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य देश के सामने एक प्रश्न है, जिसे हल करने का प्रयत्न कांग्रेस ने किया और वह उस में असफल हुई । महात्मा गाँधी ने इस प्रश्न को हल किया । परन्तु वह ऐक्य चिरकाल तक न रहा । हम नहीं जानते कि इस प्रश्न को हल करने में

हमें कब पूर्ण और चिरस्थायी सफलता प्राप्त होगी। हां, इतना अवश्य जानते हैं कि इसके हल पर समस्त देश की उन्नति अवलम्बित है।

हम ऐसे भँवर में फंसे हैं कि हमारे लिए वैयक्तिक उन्नति सम्भव ही नहीं। हम प्रयत्न करते हैं कि हम कला-कौशल में योरप के साथ मुक़ाबला करें। हम चाहते हैं कि धार्मिक मामलों के लिए हम ऐसा प्रयत्न करें कि अन्य जातियां हमारी चेली बन जायं। वर्त्तमान शिक्षा द्वारा ऐसी उन्नति करें कि हमारे यहां भी अन्य देशों की तरह विज्ञान में ईजादें हों। हम में से कई मनुष्य तो इतने पतित हो गए हैं कि वे समझते हैं कि उनका लड़का यदि इंगलैण्ड में रहकर अंगरेज़ी शिक्षा ग्रहण करके अंगरेज़ों का रहनसहन सीख लेगा और उनकी पुत्री ईसाई स्त्रियों के साथ रह कर अंगरेज़ी वेषभूषा, बालश्रृंगार और दो चार अंगरेज़ी के शब्द सीख जायगी तो बस देश उन्नत हो जायगा।

देशोन्नति का मार्ग यह नहीं है। अपने निज के लिए धन इकत्र रहने से हम कभी धनवान् नहीं बनेंगे। इससे न हमारा व्यापार बढ़ेगा, न कला-कौशल, न हम ज्ञान-विज्ञान में वृद्धि कर सकेंगे और न ही धर्म में उन्नति कर पायेंगे। उन्नति का मार्ग केवल एक ही है, कि हम सब मिलकर अपने जातीय उत्तरदायित्व को अनुभव करें और देश को आगे लेजाने का यत्न करें। जब तक देश की अवस्था उन्नत

न होगी, व्यक्तिगत प्रयत्न में तो हम केवल एक दूसरे का गला घोंटने में ही लगे रहेंगे। देशोन्नति ऐक्य पर आश्रित है! ऐक्य कैसे हो? इसमें कठिनाई यह है कि इस्लाम काफ़िरों से एकता करने की शिक्षा नहीं देता और न उसे सहन कर सकता है। इस्लाम के अनुसार पृथ्वी के केवल दो भाग हो सकते हैं—एक दारुल-इस्लाम, जो इस्लाम के अधिकार में है और दूसरा दारुल-हरब, जिसे अपने अधिकार में करने का मुसलमानों को यत्न करना चाहिए। इस हिसाब से भारतवर्ष अभी जीतने योग्य है और हिन्दुओं को मुसलमान बनाना उनका कर्त्तव्य है। तदर्थ जो साधन उन्हें बर्तने पड़ें, वे सब उचित हैं। पिछले तजरबे से हिन्दुओं का विचार यह है कि मुसलमान यदि हिन्दुओं से मेल करते हैं, तब भी हार्दिक इच्छा उनकी यही होती है कि वे इस मेल के परदे में हिन्दुओं को मुसलमान बनाते रहें। ज्यों ही हिन्दुओं ने अछूतों को ऊँचा करना या अपने से पृथक् हुए भाइयों को वापस लेना आरम्भ किया, तो मुसलमान क़ाबू में न रहे। यों तो मुसलमान यह दावा बड़े अभिमान से करते हैं कि इस्लाम मनुष्य-समता का प्रचार करता है। परन्तु जब हिन्दुओं ने अपने अछूतों को अपने साथ उठने-बैठने, और खाने-पीने की समता दी, तो मुसलमान स्थान स्थान पर हिन्दुओं के साथ फ़साद पर उतारू हो गए कि वे चमारों

आदि को क्यों ऊँचा करते हैं। मेरठ आदि के हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों का वास्तविक कारण यही था। केवल यहां तक ही नहीं, मुसलमान मौलवी मलकानों को यह कहकर बराबर जोश दिलाते रहे कि आर्यसमाजी जहां तुम्हें शुद्ध करते हैं वहां चमारों को भी शुद्ध करते हैं। शुद्ध करने के पश्चात् वे तुम्हें चमारों के हाथ से भोजन करवाएंगे। इस प्रकार अपना मतलब सिद्ध करने के लिए मुसलमानों ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों को जवाब दे दिया। इस ऐक्य-काल में मुसलमानों ने मलाबार आदि में सैंकड़ों हिन्दुओं को अपने ज़ोर से मुसलमान बनाया तो भी मुसलमान नेताओं पर जूँ न चली।

मुसलमानों के सामने हिन्दुओं ने दबकर रहने का प्रयत्न किया। इस का नतीजा उलट निकला। मुसलमानों ने यह समझा कि हिन्दुओं का उनसे दबना स्वाभाविक है। मुसलमान इस देश के शासक रह चुके हैं। तब हिन्दू उन के आधीन थे। महात्मा गाँधी ने खिलाफ़त पर ज़ोर दिया, इस कारण कि योरपीय जातियों का इसे हज़म करने का कोई अधिकार न था। उन के अन्दर ख़िलाफ़त के काम के लिए नए राजनैतिक भाव उत्पन्न हुए। वे ये कि किसी प्रकार एशिया के उस भाग में खिलाफ़त और इस्लाम का अधिकार हो जाय। अफ़ग़ानिस्तान की वर्तमान उन्नति से उनका स्वप्न एक विचार का रूप धारण करने लगा। स्वभावतः हिन्दुओं

के अन्दर यह ख़्याल पैदा हुआ कि वे भी अपने आप को बलवान् बनावें, ताकि उन पर कोई ज़बरदस्ती न करसके। अत्याचार करनेवाला निःसन्देह पाप करता है। परन्तु उस से बढ़ कर पापी वह निर्बल होता है, जिस पर अत्याचार होता है। निर्बलता मृत्यु का चिह्न है। हिन्दुओं में यह इच्छा ही हुई कि अपनी निर्बलता को दूर करें कि मुसलमान आगबगूला हो गए। यह बात प्रकट करती है कि उन का मन हिन्दुओं की ओर साफ़ न था। हिन्दुओं को ऐक्य की केवल उसी अवस्था में ज़रूरत है जब कि मुसलमानों के मन में देशोन्नति का भाव हो। यदि यह विचार उन के अन्दर न हो तो हिन्दुओं को ऐक्य की क्या ज़रूरत? मैं दूसरे से मैत्री इसलिए करना चाहता हूँ कि उसके द्वारा मेरे दुःख कम हो जावें और मैं चिर तक जीवित रहूँ। यदि मैत्री का अर्थ मेरे लिए यह हो कि मेरा मित्र मेरी जान-व-माल को हड़प जाय, तो वह मित्रता शत्रुता से भी बुरी है। सच्ची मैत्री तभी होगी, जब मुसलमान हिन्दुओं के दृष्टिकोण से देखने लगेंगे।

मुसलमान कहते हैं कि उन्हें हिन्दुओं से भय है। हिंदुओं की संख्या अधिक है, इस लिए वे मुसलमानों को अपने दबाव में रक्खेंगे। इस में सच्चाई केवल उसी अवस्था में हो सकती है जब कि मुसलमान संख्या में थोड़े होने से निर्बल हों। इस हिसाब से तो सिक्ख भी बहुत ही थोड़े हैं।

किन्तु नहीं, यदि वह संगठित हो, तो थोड़ी संख्या को बड़ी संख्या सता नहीं सकती। मुसलमानों में पहिले तो अद्वितीय संगठन है : आवश्यकता होने पर हज़ारों मुसलमान इकट्ठे हो जाते हैं। दूसरे उन के धार्मिक नेता—मुल्ला उन पर अत्याधिक रूआब रखते हैं। सब से बढ़ कर हमारे पड़ोस में स्वतन्त्र मुसलमानी देश हैं, धार्मिक दृष्टि से जहां की जातियों में जीवन पाया जाता है। भारत के आन्तरिक मामलों में इन देशों का चिरकाल तक यह प्रभाव रहेगा कि हिन्दुओं में मुसलमानों को सताने का साहस ही उत्पन्न नहीं होगा। मुसलमानों की रक्षा उन की बाह्य शक्ति में है। महात्मा गाँधी ने मुसलमानों की इतनी तरफ़दारी की कि हिन्दुओं को खिलाफ़त के लिए काम करने के लिए अनुरोध किया। इस के साथ महात्मा गाँधी का अहिंसा का कार्यक्रम था, जिसे मुसलमानों ने कांग्रेस में सम्मिलित हो कर स्वीकार किया। महात्मा गाँधी का विचार था कि हिन्दुओं में तो अहिंसा-भाव इतना है कि हिन्दू स्त्रियां वर्ष में एक दिन साँपों को दूध पिलाना भी अपना धर्म समझती हैं। हिन्दू मुसलमान दोनों में पारस्परिक ऐक्य के लिए आवश्यक है कि मुसलमान भी अहिंसा के पीछे हो जायँ। इन का हिंसा की ओर जाना ही हिन्दू-मुस्लिम फ़साद का कारण है। ज़बानी तो मुसलमान नेता यह मान गए, परन्तु उन के बाद के बर्ताव से प्रकट होता है कि वे हिंदुओं पर ज़बरदस्ती करना

अनुचित नहीं समझते । इसी कारण महात्मा गाँधी का स्थापित किया हुआ ऐक्य भी चिर तक न रह सका।

बङ्गाल के प्रसिद्ध कवि रवि ठाकुर ने इस कठिनाई का उत्तर बड़े कड़े शब्दों में दिया है—'हिन्दुओं को चाहिए कि या तो वे हिन्दुस्थान के मुसलमानों को अपने अन्दर मिला लें, या स्वयं सब मुसलमान बन जाएं।' उन की सम्मति में ऐक्य की यही एक सूरत है। हिन्दुओं के लिए यह तो स्वाभाविक बात है कि वे अपने पूर्वपुरुषों—शिवाजी, प्रताप और वैरागी जैसे वीरों का प्रेम भुलाकर मुसलमान नहीं बनना चाहते। परन्तु इस में भी बुरी बात यह है कि वे बरादरियों के जाल में ऐसे फंसे हैं कि वे मुसलमानों को अपने अन्दर जज्ब करने के लिए तैयार नहीं। उन में पाचन-शक्ति बहुत कम दिखाई देती है। मुसलमान निःसन्देह यह इच्छा रखते हैं और इस के लिए वे यत्न भी करते हैं। जब तक हिन्दुओं में जीवन और जातीयता है वे उन का मुक़ाबला करेंगे। वह समय भी निकट आरहा है जब कि वे अपनी पाचन-शक्ति को भी बढ़ा लेंगे। मेरा एक पुराना विचार है कि यदि भारत की कोई बँटाई हो सके तो हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य का एक तरीक़ा दोनों जातियों को पृथक् पृथक् कर देना है। तब भारत के एक भाग पर मुसलमानों का स्वत्व हो। और जो हिन्दू अपने धर्म को प्यारा समझता हो वह वहां न रहे। या यदि वह रहना चाहे तो मुसल-

मानों की दया पर, जैसे आजकल कुछ हिन्दू अफ़ग़ानिस्तान में रहते हैं। दूसरा भाग हिन्दुओं का हो और कट्टर मुसलमान उसे छोड़ कर इस्लामी भाग में चले जायं। और यदि कोई मुसलमान वहां ही रहना चाहे तो वह अपने उपदेशों को परे रख दे। इस में कुछ सन्देह नहीं कि यह तब ही हो सकता है, जब राजनैतिक शक्ति बहुत हद तक हिन्दुस्थानियों के हाथ में हो।

चौथा एक अन्य विचार है, जो हिन्दुओं का एक दल पेश करता है, कि मुसलमान लोग सरकार के साथ मिल कर सभी सरकारी अधिकार अपने हाथ में कर रहे हैं। लगभग सारी पुलिस मुसलमानों की है। अन्य विभागों में भी सरकारी अधिकारी पहले मुसलमानों को ही स्थान देते हैं। इस का अर्थ यह होगा कि हम दो प्रकार की ग़ुलामी के नीचे आ जाएंगे—एक सरकारी, दूसरी मुसलमानी। एक आदरणीय हिन्दू ने मुझ से कहा कि, 'हिन्दुओं के लिए बड़ा अच्छा होता यदि पञ्जाब में सुधार (रीफ़ार्म) बिल्कुल न होता। अब हमें अंगरेज़ों के अतिरिक्त मुसलमानों की दासता में रहना होगा। लाहौर आदि की म्युनिसिपल कमेटियां इस के प्रमाण हैं'। यह दल कहता है कि हिन्दुओं को चाहिए कि वे भी मुसलमानों की तरह सरकार के उपकार से लाभ उठाने का प्रयत्न कर के कुछ सरकारी पद अपने हाथ में रक्खें। तत्पश्चात् सरकार के साथ मिलकर पहले मुसलमानों को निर्बल करके अपनी शक्ति

बढ़ा लें। जब इस प्रकार हमारी शक्ति बढ़ जाय तब स्वराज्य-प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जा सकता है। ये लोग भी अपने आप को पक्के हिन्दू और देशभक्त कहते हैं। इन की समझ में केवल इतनी ही भूल है, वे समझते हैं कि दूसरी किसी शक्ति के सहारे पर वे अपने आप को बलवान् बना लेंगे। ऐसा कभी नहीं हुआ। इस तजवीज़ में एक और आपत्ति यह है कि ऐसा करना हमारे अपने हाथ में नहीं है। सरकार हमारी ख़ुशामद और चापलूसी से प्रसन्न हो कर हमें उच्च पद देगी या नहीं इस का निर्णय सरकार के हाथ में है। सरकार की अपनी नीति यही है—किसी को निर्बल करो, किसी को बलवान् बनाओ। इस बात पर विश्वास करना बड़ा कठिन है कि सरकार की यह नीति केवल ख़ुशामद से बदली जा सकती है। सरकार हिन्दुओं को निर्बल करना चाहती है। उस का विशेष कारण यह है कि केवल हिन्दू ही हैं, जो इस देश को अपना समझते हैं। इस लिए देशभक्ति का भाव भी हिन्दुओं में ही उत्पन्न हो सकता है। मुसलमान इस देश को या इसके प्रति प्रेम को अपने हृदय में कम स्थान देते हैं। इस लिए उन के अन्दर कभी देश पर बलिदान होने का भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। उन को अपने साथ मिला कर सरकार हिन्दुओं को दबाना चाहती है। आजकल साधारण हिंदुओं का विचार और ही है। वे समझते हैं कि वास्तविक ऐक्य तब होगा, जब हिन्दू इतने बलवान् होंगे कि मुसलमानों

को विश्वास होगा कि उन्हें हिन्दुओं के साथ फ़साद करने में हानि होगी। अर्थात् जब हिन्दुओं में इतना बल आ जायगा कि मुसलमान अपने बचाव के लिए उन पर हाथ चलाने से परहेज़ करेंगे। इस के लिए सर्वसम्मति से यह प्रस्ताव पास किया गया है कि हिन्दू-संगठन के लिए स्थान स्थान पर हिन्दू सभाएं हों। हिन्दुओं की सामाजिक कुरीतियों को, जिन से हिन्दू निर्बल हो रहे हैं, बन्द किया जाय। हिन्दुओं को व्यायाम का शौक़ हो। हिन्दू बच्चों को वे व्यवसाय सीखने चाहिएं, जिन से दिमाग़ और हाथ दोनों बलवान् हों। हिन्दू अपने नीचे दर्जे के भाइयों को बराबर का दर्जा दें और सब से बढ़कर शुद्धि का द्वार खोल दें ताकि उन के भाई अन्य धर्मों में न जाने पाएं। ये सब बातें हिन्दू-संगठन द्वारा पूर्ण हो सकती हैं।

दो मार्ग

लोगों को बहुत बार कहते सुना जाता है कि संसार में बहुत थोड़े मनुष्य पुण्यात्मा होते हैं, जिनके कारण यह संसार चलता है, नहीं तो बहुत जल्दी यह नाश को प्राप्त हो जाता। बहुत कम मनुष्य ऐसे हैं, जो सोचते हैं कि वास्तव में यह बात सच है। साधारणतः यह बात सुन कर, टुहरा दी जाती है। ऐसा क्यों? इस लिए कि सब लोग

देखते हैं कि संसार में इतना पाप होता है, और पापी लोग फलते हैं, फूलते हैं, आनन्द करते हैं, उन्हें कोई दुःख नहीं होता। उनकी सन्तान आनन्द करती है। दूसरी ओर जिन मनुष्यों को सच्चरित्रता और ईमानदारी का ख़ब्त है, वे स्वयं और उनका परिवार अपना समय कष्ट में गुज़ारते हैं। इन भूखे मरनेवालों से दुनिया को चलने में क्या सहायता मिल सकती है ?

शास्त्रों की शिक्षा का पहला नियम यह है कि अन्न अर्थात् जीविका की पवित्रता हमारे समस्त जीवन की पवित्रता का बीज है। जीविका का साधन पाप का होने से हमारा सब कुछ पाप का परिणाम हो जाता है। इस पाप का प्रभाव हमारी सन्तान की आत्मा पर भी होता है। भीष्मपितामह ने यह कहा था कि दुर्योधन के अन्न ने उसकी आत्मा को मलीन कर दिया है। द्रोणाचार्य जैसे ब्राह्मण दुर्योधन के अन्न से पाप और पुण्य में भेद न कर सके। परन्तु उत्तम व्यवहार की जीविका से कुछ बहुत प्राप्त नहीं होता, इस से कुछ सुख नहीं मिलता। खाली मिहनत और पसीने से रोटी खानेवाला कभी धनवान् नहीं हुआ। गुरु नानक ने यहां तक कह दिया—

पापां बाज न होय इकट्ठी, मोयां संग न जाय।

आजकल के साम्यवादी भी इस परिणाम पर आ पहुंचे हैं। पर दुनिया वैसी की वैसी चली जा रही है।

कल्पना करो असहयोग के सिद्धान्त के अनुसार एक मनुष्य एक अच्छे सरकारी पद को त्याग देता है। उसे अब जीविका का कोई साधन दिखाई नहीं देता। पहले उसे दो अढ़ाई सौ रुपया वेतन में मिलता था। अच्छे मकान में रहता था। एकाध नौकर भी था। उसकी पत्नी और बच्चे आराम से रहते थे। नियमानुसार प्रति मास वेतन मिलता था। कभी कोई तंगी नहीं हुई थी। अब क्या है? नौकरी पाप समझकर छोड़ दी है। निशिदिन खाने की फ़िक्र लगी है। घर के लिए वस्त्र चाहिएं। उन के लिए कहीं से पैसा हाथ नहीं लगता! दुनिया में अब वह नाकारा होगया है! वह देश-सेवा क्या करेगा? पहले जब कभी किसी नेता से मिलता था, तब उसका आदर होता था। अब जब किसी के पास जाता है, स्वार्थवश जाता है और वहां भी कोई आदर नहीं होता। इस से देश को क्या लाभ हुआ? अनेक नवयुवक हैं। कालेज में पढ़ा करते थे। ख़र्च के लिए घर से खुला रुपया मिलता था। अध्यापक बड़े भद्र पुरुष थे। उन के मित्रों और सम्बन्धियों को बड़ी आशा लगी थी: कुछ देर में वकील बन जायंगे तो उन से कोई न कोई काम ही निकलेगा। सब बड़े प्रेम और आनंद से मिलते थे। असहयोग के दिनों में कालेज छोड़ दिया। घर से ख़र्च मिलना बंद होगया। माता पिता अप्रसन्न हो गए। पुराने हेडमास्टर तार देकर समझाते हैं। नए अध्यापकों ने भी

आँखें बदल ली हैं। कोई पूछता नहीं। भविष्य के लिए कुछ दिखाई नहीं देता कि क्या करेंगे। अब कोई काम नहीं सूझता। बेचारे समझते हैं कि यों ही धक्के खा रहे हैं! कई बार ख़याल आता है, कालेज छोड़ दिया, क्या मूर्खता की। अब भी अच्छा है, वापस चले जायं। इस झूठे हठ और ज़िद्द से क्या लाभ? कई विद्यार्थी, जो नेता समझे जाते थे: लम्बी चौड़ी बातें और भाषण किया करते थे, थोड़े ही मिन्दा होकर वापस चले गए हैं। वे परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गए हैं। हम क्या करेंगे? हम से किसी का क्या हित होगा?

प्रश्न यह है कि क्या संसार सचमुच ऐसे ही सच्चरित मनुष्यों के सहारे पर चलता है। दिखाई तो यह पड़ता है कि ये लोग केवल काँटे हैं। संसार सदा सच्चरित मनुष्यों द्वारा ही आगे बढ़ता है। मुशकिल यह है किस की सुनें। दुनिया तो सारी एकज़बान होकर अपनी बात बताती है। धर्मज्ञ दूसरा मार्ग बताते हैं। वे कहते हैं—सांसारिक मार्ग कपट का मार्ग है। इस में बड़ा धोखा है। इस पथ पर चलकर मनुष्य मायाजाल में फंसा रहता है। और कभी यथार्थ सुख या ज्ञान को प्राप्त नहीं करता। हमारी कठिनाई और गहरी हो जाती है, जब हम देखते हैं कि धर्म के मार्ग की बातें बतानेवाले भी व्यवहारिक जीवन को सांसारिक मार्ग बताते हैं। इस परिस्थिति में हम किस का आश्रय लें?

उपनिषद् इस प्रश्न का देखते ही हल कर देते हैं। वे

बताते हैं कि दो मार्ग हैं—एक प्रेय, जो बहुत प्यारा मालूम होता है, दूसरा श्रेय—जो प्यारा तो नहीं, किन्तु कल्याण-कारी है। यदि कल्याण के मार्ग में वैसा ही सुख और आराम मिलता तो समस्त संसार उस मार्ग पर स्वयमेव चल पड़ता। तब धर्म के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए इतने बड़े ग्रन्थों और शास्त्रों की क्या आवश्यकता थी? और लोगों को धर्म-मार्ग पर चलाने के लिए इतने ऋषि, मुनी और उपदेष्टा क्यों ज़ोर लगाते? लोगों के सुधार के लिए इतनी सभाएं क्यों बनाई जातीं? यह सब इस लिए किया जाता है कि धर्म का मार्ग कठिन है। इस पर चलने में कष्ट होता है। मनुष्य-स्वभाव सुख चाहता है और जो बात उसे आराम और सुख देनेवाली मालूम होती है, वह उसी की ओर दौड़ता है। बच्चा दिन भर खेलना चाहता, पुस्तक को देखना नहीं चाहता। उसे खेलतमाशे और गप्पों में आनन्द आता है, वह उन में ही लगे रहना चाहता है। दिन भर इधर उधर घूमता रहेगा, ताश खेलता रहेगा, पढ़ने का नाम न लेगा। मनुष्य का चित्त उस बच्चे के चित्त के समान है। या उस बलगाम घोड़े की तरह है, जो अपने मार्ग पर जाकर सवार को गढ़े में गिराना चाहता है। इस चित्त को वश में करने के लिए शास्त्र रचे गए। आज शास्त्र की बात कौन सुनता है? सुन भी ली मानता कौन है? संसार-प्रवाह बड़ा ज़बरदस्त है। संसार की दासता हम

में से अनेकों को बहा लिए जाती है !

बात यह है कि जो मनुष्य सच्चरित्रता के मार्ग पर चलते हैं, उन्हें समझ लेना चाहिए कि इस मार्ग पर चलने में उन्हें आराम या सुख नहीं मिलेगा। जो अपने व्यक्तिगत सुख को उद्देश रख कर जीता है, उसे धर्म का विचार छोड़ देना चाहिए। उस के लिए प्रेय-मार्ग अच्छा है। अच्छा, यदि सच्चरित मनुष्य को सुख नहीं मिलता तो और किसे होता है ? तब उस मनुष्य को इस से क्या लाभ ? हरिश्चन्द्र ने अपने सत्य पर दृढ़ रहने के लिए कितने कष्ट उठाए ? उसे क्या सुख मिला ? यदि हरिश्चन्द्र सुख चाहता तो क्या तरीक़ा था ? उसे सत्य को छोड़ देना चाहिए था, जैसा कि सांसारिक मनुष्य करते हैं। जब उन का मतलब होता है तब वे सच कह देते हैं और जब उनका झूठ से काम निकलता तब झूठ बोल देते हैं। दूसरा दृष्टान्त हक़ीक़त का लीजिए। उसे सुख किस बात में था ? वह अपना धर्म छोड़ देता, उसे सब आराम मिल जाते और अपनी स्त्री के साथ रहकर वह दुनिया में आनन्द करता। व्यक्तिगत दृष्टिकोण से उसे सब से बड़ा दुःख हुआ। तलवार से उस ने अपना सीस कटवा दिया। किन्तु अपना धर्म बचा लिया। वीर वैरागी को लीजिए। उसे पञ्जाब में आकर क्या सुख मिला ? उस ने अपनी गद्दी छोड़ वैराग्य का जीवन त्याग दिया, निशिदिन युद्ध में रहकर उस ने अपने जीवन को दुःखमय बना

लिया, और यदि अन्त में शहीद न होता तो आनन्द पाता ! किन्तु हिन्दू धर्म कहां जाता ? इन सब ने अपने जीवन में कष्ट और दुःख सहते हुए अन्त में प्राण तक दे दिए ! क्या यह सब कुछ योंही मूर्खता थी ? बात यही है। जो मनुष्य धर्म के मार्ग पर चलता है, वह स्वयं कष्ट ही उठाता है। किन्तु जब कोई दूसरों के लिए कष्ट उठाता है, तभी वह दूसरों का कल्याण करता है और दूसरों के कल्याण में उस का कल्याण होता है।

जब कोई जाति अपनी स्वाभाविक अवस्था में होती है तब यह हो सकता है कि एक मनुष्य के व्यक्तिगत बड़प्पन में उसकी जाति की भी उन्नति पाई जा सके। वहां पर ये दोनों बातें न केवल उलट नहीं होतीं प्रत्युत प्रायः एक दूसरे के साथ भी चलती हैं। परन्तु जब कोई जाति उलट परिस्थिति में आ पड़ती है तब उस समय का एक ही नियम स्मरण रखना चाहिये कि जिन बातों में मनुष्य का व्यक्तिगत सुख और बड़प्पन पाया जाता है, वे उसकी जाति के लिए प्राणांतक होती हैं। और इस के विरुद्ध जिन बातों में जाति का हित होता है उन में मनुष्यों को व्यक्तिगत दृष्टि से दुःख, क़ुर्बानी और शहादत में से गुज़रना पड़ता है। जो मनुष्य जाति-अर्थ जीना चाहते हैं उन्हें अपने सब आराम छोड़ कर जीवन को हथेली पर रख कर चलना पड़ता है। यदि वर्त्तमान शिक्षा द्वारा कुछ मनुष्य उच्च पदों

को प्राप्त कर लें तो इतना ही समझना चाहिए कि यह शिक्षा व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से बहुत से मनुष्यों के लिए लाभकारी हो, परन्तु इसके द्वारा जातीय हित की कोई आशा नहीं हो सकती। इसलिए वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली जातीय नहीं कहला सकती। इस के साथ एक और बात भी स्मरण रखने योग्य है कि कई ऐसे दृष्टान्त हैं, जिन में मनुष्य व्यक्तिगत दृष्टि से सच्चरित और त्यागी होता है और इस त्याग के कारण उसका प्रभाव सर्वसाधारण पर ऐसा पड़ता है कि सब उसे अपना पथप्रदर्शक मानते हैं। परन्तु यदि वही मनुष्य जातीय जीवन के हित को सामने नहीं रखता तो उसका सारा त्याग और प्रभाव, जो कि उस के व्यक्तिगत गुणों के कारण उसे प्राप्त है, जातीय अहित में प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार व्यक्तिगत गुण भी जाति के लिए महापाप का रूप धारण कर लेते हैं।

अब प्रश्न होता है कि इस धर्म से संसार चलता क्योंकर है? साधारणतः तो मालूम होता है कि यदि प्रत्येक मनुष्य अपने हित के लिए प्रयत्न करे तो सबका हित स्वयमेव हो जायगा। इसलिए स्वार्थ ही सब के हित का बड़ा साधन है। वास्तव में यह यथार्थ नहीं है। यह संसार एक रण-क्षेत्र है। यहां प्रतिक्षण देवासुर-संग्राम जारी है। एक मनुष्य को दूसरे के विरुद्ध युद्ध करना पड़ता है। एक जाति दूसरी जाति को खाने के लिए तैयार बैठी है। प्राकृतिक शक्तियां

मनुष्य को नष्ट करने पर उद्यत हैं। हमारी आन्तरिक त्रुटियां या बीमारियां हमें नष्ट करने पर तुली हैं। यह संग्राम का संसार अपने स्वार्थ के लिए काम करता रहेगा। हम इससे कभी नहीं बच सकते। प्रत्युत जो नियम हमें बचा सकता है और हमारे लिए कल्याणकारी हो सकता है वह ठीक इस के विरुद्ध है।

कल्पना करो एक नगर में एक मकान को आग लग गई है। यदि उस समय प्रत्येक मनुष्य अपने अपने मकान को बचाने की चिन्ता करे तो निश्चय ही सब के मकान जल जायंगे। वहां तो नियम ही यह है कि सब मिलकर नगर के उस एक मकान की आग बुझाएं। इसी में सबका बचाव है। यदि प्लेग आदि कोई महामारी किसी देश में प्रवेश करती है, तो प्रत्येक मनुष्य अपनी रक्षा की सामग्री इकट्ठी कर के अपने आप को बचा नहीं सकता। वहां सब को मिलकर उसे रोकने का प्रबन्ध करना होगा। इसी प्रकार यदि कोई शत्रु किसी देश पर आक्रमण करता है, तो उस मनुष्य की वह चेष्टा व्यर्थ जाती है, जो अपने घर को बचाने का प्रयत्न करता है। जिस देश में लोग ऐसा करेंगे निश्चय ही वह नष्ट हो जायगा। गत योरपीय महासमर का उदाहरण लीजिए। जब आरम्भ में ही जर्मन सेना ने पेरिस पर धावा बोला और भय था कि वह उन के हाथ में चला जाय तब इंगलैण्ड ने क्या किया? इंगलैण्ड को भय हुआ कि आज

पेरिस जर्मनी के हाथ जाता है, तो कल इंगलैण्ड की बारी आ जायगी। अपने आप को बचाने के लिए वह सब तरह की कुर्बानी करने पर उद्यत हो गया। इस्लामी आक्रमण-काल में हिन्दू राजाओं की क्या अवस्था थी ? एक पर आक्रमण होता है और उस का पड़ोसी राजा तमाशा देखता है। इस स्वार्थ ने उन्हें नष्ट कर दिया। इसके विरुद्ध इंगलैण्ड के सब नवयुवकों ने विश्वविद्यालय छोड़ दिए। अमीर स्त्रियों ने प्रसादों में रहना त्याग दिया और सब रणक्षेत्र की तैयारी में लग गए। इकट्ठे मिलकर ही वे अपने देश को बचा सकते थे। तुम्हारे मुक़ाबले पर ऐसी शक्तियें हैं, जो तुम्हारे धर्म को, जातीयता को नष्ट करना चाहती हैं। उसका उपाय यह नहीं कि तुम पृथक् पृथक् होकर उनका सामना करो। इस में तुम्हारी मृत्यु है, यह बचने का साधन नहीं है। ऐसे और दृष्टान्त दिए जा सकते हैं। नियम यह है कि इस संसार में स्वार्थ कभी जाति का बचा नहीं सकता। इस लिए यह महापाप है और पापों का मूल है। स्वभावतः मनुष्य स्वार्थी है। स्वार्थ से संसार नहीं चल सकता। वह जाति उन्नति करती है, जिस में स्वार्थ की जगह जातीय बलिदान का भाव हो। जिस जाति के अन्दर जितना बलिदान-भाव अधिक होता है, उतनी ही वह अधिक उन्नति करती है। जितना यह भाव कम होता है, उतनी ही कम उन्नति होती है। सारांश में बलिदान-भाव को जाति के

अन्दर जीवित रखना परमावश्यक है। इसलिए जो मनुष्य, चाहे उनकी संख्या कितनी थोड़ी है, देश में परमार्थ या बलिदान का बीज क़ायम रखते हैं वे धर्म के मार्ग पर चलते हैं। प्रत्येक समाज क्योंकि इसी भाव पर आश्रित है, इस लिए धर्म करनेवाले वे लोग हैं, जो संसार को चलाते हैं।

यदि हरिश्चन्द्र का नाम संसार से मिट जाय तो 'सत्य' केवल एक शब्द ही रह जाय। यदि हक़ीक़त और ऐसे अन्य शहीद देश में न होते तो धर्म का बीज नष्ट हो जाता। तब जाति कैसे जीवित रहती? इस बलिदान (परमार्थ) के भाव को देशभक्ति कहा जाता है। इसे हम जातीय भाव कह सकते हैं। जब किसी जाति में यह भाव भर जाता है, तब उसमें जातीय जीवन उत्पन्न करना कठिन बात नहीं होती। यह भाव कैसे उत्पन्न हो? इसका साधन यह है कि सर्वसाधारण को इस के सिद्धान्तों की शिक्षा देकर, उन्हें उन के व्यवहारिक जीवन में लाया जाय। अर्थात् जाति के लिए तब वे भूखा रहना, कष्ट सहना, अनादर सहना और मरने तक को तैयार होंगे। राजपूतों के अन्दर यह भाव था। शनैः शनैः उन में से यह भाव कम होता गया और महाराष्ट्र में मराठों में और पंजाब में सिक्खों के अन्दर बढ़ता गया। इन्हों ने यह भाव स्वतन्त्रा के आँदोलन में सीखा था। शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् तीस चालीस वर्ष पर्य्यन्त समस्त महाराष्ट्र औरंगज़ेब की गवर्नमेंट विरुद्ध युद्ध करता रहा। यह आँदोलन

था, जिसने महाराष्ट्र के वासियों को सच्चे देशभक्त बना कर अपना साम्राज्य बनानेके योग्य बनाया। वैरागी के बलिदान के पश्चात् सिक्ख कुछ वर्षों के लिए तित्तर-बित्तर हो गए। किन्तु शीघ्र ही उन के आँदोलन का नवारम्भ हो गया। लाहौर की मुसलमान गवर्नमेण्ट ने उन पर अन्याय और अत्याचार शुरू किए। मुग़लों के मुक़ाबले पर सिक्ख बराबर तीस वर्ष तक लड़ते रहे! इस आँदोलन में उन्होंने बलिदान के वे उदाहरण देखे, जिस से उन की आत्मा नवाग्नि से भर गई।

भयानक शत्रुओं के मुक़ाबले पर खड़े होकर कष्टों को सहन करना जाति में अनुभव, साहस, सहनशीलता और अव्याकुलता उत्पन्न करता है। यही गुण हैं, जो लोगों को स्वतन्त्र होने का अधिकारी बनाते हैं। ऊपर के दबाव और अत्याचार के जाति पर दो प्रभाव पड़ते हैं। कई बार अत्याचारपीड़ित अन्याय से तंग आकर बिलकुल बैठ जाते हैं और सब साहस आदि को छोड़ बैठते हैं। यही कारण है कि जिन के हाथ में शक्ति होती है, वे निर्बलों को दबाना चाहते हैं। किन्तु यदि पददलितों में जीवन हो तो यही अत्याचार उन की शक्ति को बढ़ाता है। और इस से उन में जीवन की चिंगारी भड़क उठती है। नीति की बात यह है कि यदि जीवन बिल्कुल कम हो तो रहासहा जीवन भी अत्याचार से बुझ जाता है, जैसे हवा के झोंके के आगे दिया बुझ जाता

है। किन्तु यदि जीवन अधिक हो तो वह इस प्रकार भड़क उठती है, जैसे मकान को लगी हुई आग वायु से और तेज़ भड़कती है। मीर मन्नू लाहौर का एक अधिकारी था, जिस ने सिक्खों पर बड़े अत्याचार किए। सिक्ख स्वयं कहते थे–

मन्नू असाडी दात्री, असी हां उसदे सोये।
ज्यों ज्यों सानूं वड्डदा त्यों त्यों असी होये॥

अर्थात् मन्नू हमारे लिए दात्री है और हम सोये (घास) के समान हैं (सोये पर ज्यों ज्यों दाँती चलती है त्यों त्यों वह उगता है)। जितना मन्नू हमें काटता है, उतने ही ज़ोर से हम फैलते और बढ़ते हैं।

—o—

इलाज क्या है ?

आजकल रोग को दूर करने के लिए कितने ही तरीक़े बर्ते जाते हैं। हमारा पुराना तरीक़ा आयुर्वेद है। इस के साथ मिलता हुआ ऐलोपैथी है, जो पश्चिमी देशों में बहुत बर्ता जाता है। एक सौ वर्ष हुए, होम्योपैथी का तरीक़ा एक जर्मन डाक्टर ने निकाला था। इस में यह नियम काम करता है--अधिक परिमाण में जो वस्तु शरीर को विशेष कष्ट देती है, उस कष्ट के होने पर वही वस्तु बिलकुल थोड़े परिमाण में उसे दूर करती है। होम्योपैथी का रिवाज भी अमेरिका आदि देशों में बढ़ रहा है। भिन्न भिन्न रोगों का

भिन्न भिन्न तरीक़ों से इलाज किया जाता है। सब से नया इलाज का तरीक़ा मस्मरविद्या है, अर्थात् केवल निश्चय द्वारा इलाज करना। यह तरीक़ा लगभग वैसा ही है, जैसाकि हमारे हां पहले झाड़मन्त्र था। आश्चर्य की बात यह है कि संसार में अनेक मनुष्य मिलते हैं, जिन को इन में से किसी न किसी इलाज द्वारा लाभ हुआ होता है और वे उसी की प्रशंसा करते हैं। सम्भव है इस इलाज से लाभ होता हो किन्तु इससे बढ़कर सम्भव एक और बात है कि लाभ प्रकृति स्वयं करती हो। ये केवल साधन हैं, जो उसे अवसर देने और कुछ सहायता देने का काम करते हैं इस लिए न इन में कोई विशेषरूप में अच्छा है न बुरा। अपने अपने समय में सभी अच्छे होते हैं।

जब कोई मनुष्य रोगग्रस्त होता है तब रोग के कुछ विशेष चिह्न देखने में आते हैं। एक साधारण चिह्न तो यह होता है कि रोगी को न भूख लगती है और न खाना ही हज़म होता है। दूसरा उस के अन्दर चलने फिरने की शक्ति नहीं रहती। एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए उसे दूसरों का आश्रय लेना पड़ता है। एक और चिह्न यह होता है कि रोगी का वज़न दिनप्रतिदिन कम होता जाता है। इसी प्रकार जब कभी कोई जाति रोग का शिकार हो जाती है तब उस के अन्दर भी यही चिह्न दिखाई पड़ते हैं। हम यदि हिन्दू जाति की अवस्था पर ध्यान देवें, तो उस के

अन्दर यही चिह्न पाएंगे। हिन्दुओं में पाचन-शक्ति बिल्कुल ही नहीं रही। दूसरों को लेकर अपने अन्दर पचाना तो एक ओर रहा, उन के अन्दर कभी यह इच्छा या भूख तक नहीं उत्पन्न हुई कि हम दूसरों को अपने साथ सम्मिलित करें। प्रत्येक मनुष्य-गणना हमें यह बतलाती है कि भारत में जहां अन्य जातियां बढ़ती जाती हैं, वहां उनके मुक़ाबले पर हिन्दुओं की संख्या घटती जाती है। और यदि वह घटती इसी तरह जारी रही तो उसका स्वाभाविक परिणाम समझ में आना कोई कठिन बात नहीं। हिन्दुओं का परावलम्बन भी एक ऐसी बात है, जिस को समझाने के लिए तर्क की आवश्यकता नहीं। हिन्दुओं के अन्दर सामाजिक कुरीतियां ऐसी हैं, जो इन्हें दीमक के सामान खा रही हैं। इन सब बातों को देख कर यह कहा जा सकता है कि हिंदू जाति एक रोगी के समान है और उस का इलाज करना परम आवश्यक है।

जाति को जब प्राणांतक रोग चिमट जाता है तब उस के इलाज बतानेवालों के भिन्न भिन्न मत होते हैं। सब देशों में ऐसा ही होता है। अपने देश में भी हम ने देखा है कि यहां पर धार्मिक सभाओं के उत्साही सदस्य हैं, जो यह दावा करते हैं कि बस, जब उनका मत समस्त देश या संसार में फैल जायगा तब यह देश दासता से मुक्त हो जायगा। इस लिए नवयुवकों को चाहिए कि वे धर्म-

पताका हाथ में लेकर चल पड़ें। पुरानी कांग्रेस के कार्यक्रम पर चलनेवाला नरमदल है, जो मानता है कि चाहे दासता हो या विदेशी शासन, संसार उन्नति कर रहा है, इसलिए हम भी उन्नति-पथ पर चल रहे हैं। देश-प्रेम के नाम पर स्वयं कष्ट में पड़ना या दूसरों को कष्ट में डालना व्यर्थ है। इस से कुछ नहीं बनता। काम हो तो ऐसा, जिस में हमारे सुख में कोई बाधा न हो और हम देश को भी ऊंचा कर सकें। कवि ने अच्छा कहा है—

रंज लीडर को बहुत हैं, मगर आराम के साथ।

ग़म से डिनर खाते हैं बहुत, मगर हुक्काम के साथ।

कांग्रेस के कार्यक्रम से तंग आकर अराजकतावादी-दल निकला। उन्हों ने जो कुछ किया वह हम ने देखा। इन में से कई नवयुवकों का त्याग और बलिदान कभी हम विस्मृत नहीं कर सकते। परन्तु हमारे हां चरित की कितनी कमी है! जिन के नेता पकड़े गए उन पर भय छा गया। उन्हों ने समझा कि अब तो सब कुछ हो गया। उन ने अपने साथियों को पकड़वाने में कोई कसर न उठा रक्खी। इस बात का अनुकरण हुआ और बङ्गाल में यों ही सैकड़ों नवयुवक पुलिस और जेल के फंदे में आ पड़े। इन्हीं महाशयों को जब अवसर मिलता है तब अपने लीडरी की फड़ मारने पर तैयार हो जाते हैं। महात्मा गाँधी ने असहयोग जारी किया। कहां तक इसने देश को उँचा किया,

यह बताने की आवश्यकता नहीं। देशवासी निर्भय हो गए। हज़ारों लोगों को जेल का डर न रहा। खद्दर को कितना उच्च पद प्राप्त हो गया? वकीलों को अपना वास्तविक पद प्राप्त हो गया! छलनी की तरह उस से सच्चे और झूठे देशभक्त पृथक् पृथक् हो गए। परन्तु फिर क्या? वही चरित्रहीनता? नेताओं को जुलूसों की और अपने नाम पर घोषणा करने की इच्छा उत्पन्न हो गई। दुनिया किधर जा रही है? वे इस तर्क से लोगों को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि अब भी वह पुरानी अवस्था है। इलाज का कोई तरीक़ा इस जाति की बीमारी को दूर करने के लिए समर्थ न हुआ।

वास्तव में बात यह है। हमारा रोग पेचदार है। रोग भी तो एक नहीं अनेक हैं। और कोई एक ऐसा नुसख़ा नहीं, जो हमारे सब रोगों को दूर कर सके। हम को यह मामला प्रकृति के इलाज पर छोड़ना पड़ेगा। हमारा काम केवल इतना ही है कि प्रकृति को अवसर दें ताकि वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग कर सके। ऐसी अवस्था में डाक्टर का काम इतना ही होता है कि वे भिन्न भिन्न रोगों को इतना न बढ़ने दें कि रोगी के जीवन का अन्त हो जाय। जो जातियां ऐसी अवस्था में अपने अस्तित्व के लिए प्रयत्न करती हैं, वे सफल नहीं होतीं। प्रत्युत वे अपने प्रयत्न को कष्ट सहने पर भी इतना लम्बा करती हैं कि इनके

विरोधी शत्रु तंग आकर अपना दबाव हटा लेते हैं। हमें केवल जीवन लम्बा ही नहीं करना प्रत्युत अपने अस्तित्व के लिए यत्न करना है। इसी में साफल्य का रहस्य है।

अपनी अवस्था को देखने पर हमें मालूम होता है कि सिक्ख लोग अवश्य हमारा ऐसा भाग हैं, जिस ने महात्मा गाँधी के सत्याग्रह को अपना लिया है। मुसलमानों में संगठन और जोश काफ़ी है। उन की संख्या थोड़ी होने से सरकार उन की सहायता कर रही है ताकि वे हिन्दुओं के साथ न मिल जायं और अपना हित सरकार के साथ ही रहने में समझें। जहां आबादी सारी हिन्दू हैं और राज्य मुसलमान है वहां सब अधिकारी मुसलमान होने चाहिएं; ताकि वे हिन्दुओं को दबाए रक्खें। जहां मुसलमानों की आबादी अधिक हो और राजा हिन्दू वहां भी मुसलमान अधिकारी होने चाहिएं ताकि राजा मुसलमानों पर अत्याचार न कर सके। नीति हो तो ऐसी! हिन्दुस्थान के मुसलमानों को परवा ही क्या है? बाहर दुनिया में मुसलमानों के कई स्वतन्त्र देश हैं!

रह गए ग़रीब हिन्दू! ये स्वयं निर्बल! इन में न कोई एकता है, न कोई संगठन! इन की नीची श्रेणियां अछूत हैं। इन की ऊँची श्रेणियां स्वार्थ में फंसी हैं। केवल एक ही बात इन के पक्ष में है। वह इन की संख्या है। वही संख्या का आधिक्य इन के दुःख का मूल कारण है। सरकार भी इन्हें

सब ओर से दबाना चाहती है। स्थान स्थान पर इन्हें ज़मीन खरीदने से वंचित किया जा रहा है। इस का अर्थ यह है कि हिन्दुओं का अपने देश की भूमि पर कोई अधिकार नहीं है : इन्हें अपने देश में परदेशी होकर रहना पड़ेगा। सरकारी पद तो इन्हें मिलने ही न चाहिएं।

पंजाब में तो इन की कोई भाषा ही नहीं। जिसे ये अपनी भाषा कह सकें। न इन के अन्दर सिक्खों या मुसलमानों का सा जोश और हिम्मत है कि अपने बच्चों को अपनी भाषा सिखा सकें। इन के बच्चे निर्बल हैं। माता पिता इन के शारीरिक बल का ख्याल नहीं रख सकते। इन के जीविका के काम ऐसे हैं कि इन द्वारा इन के हाथों में कोई बल नहीं आ सकता। प्रत्येक हिन्दू नवयुवक यही चाहता है कि उसे कोई ऐसा काम मिले. जिस में उस के हाथ पाँव को कष्ट न हो और बैठे बिठाए उसे आराम से रोटी मिल जाय। उस के सामने मोटर और गाड़ी का नक्शा रहता है। मैं इस चित्र का दूसरा पहलू देखता हूँ। मेरे सामने जब कोई नवयुवक मोटर या गाड़ी में बैठा हुआ हवाखोरी के लिए जा रहा होता है तब मुझे उस पर दया आती है कि उस के पाँव चलने से रह जायंगे, उस का शरीर काम नहीं करेगा और मेदा पचाने से रह जायगा। अज्ञानतावश जिसे वह आराम समझता है वह है उस के लिए रोग। हमारे अन्दर

इतनी लज्जा भी नहीं रही कि हम अपनी स्त्रियों, बहिनों और लड़कियों की रक्षा कर सकें। जो जाति अपनी भूमि और स्त्री की रक्षा नहीं कर सकती और जिस जाति के अन्दर स्त्री-पूजन नहीं वह नाश की ओर जा रही है। अपनी लड़कियां हम ईसाई स्त्रियों के हवाले कर देते हैं ताकि वे उन्हें अंगरेज़ लड़कियों का नमूना बना दें। वे ही हमारे हाथ से छीनी जाती हैं और निर्बलों की तरह हम हाथ मलते रह जाते हैं। किन्तु हम अपने पतित स्वभाव में सुधार नहीं कर सकते। हम अपनी विधवाओं का दूसरा विवाह इस लिए नहीं कराते कि उस से बिरादरी में अनादर होगा। किन्तु उन्हीं ब्राह्मण और क्षत्रिय विधवाओं को विधर्मी भगा ले जाते हैं तो मालूम नहीं हमारी लज्जा कहां जाती है। इन सब से बढ़ कर हमारा पैसा-प्रेम ग़ज़ब का है। हम अच्छा खाते नहीं और शरीर को पुष्ट बनाने का विचार तक नहीं करते। हम बच्चों को कुछ खिलाना नहीं चाहते। हमारा सारा समय दुकान पर बैठे गुज़र जाता है। प्रतिक्षण हम मकड़ी की तरह रुपए की घात में बैठे रहते हैं। यह सब किस लिए! ज़ेवर बनायेंगे ताकि शत्रु समय पाकर लूट ले और यदि होसके तो हमें क़त्ल कर दे सके! या मुण्डन, सगाई, विवाह आदि पर बिरादरियों को प्रसन्न कर सकें। या जमा करके अपनी सन्तान के लिए छोड़ जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि मुफ़्त का रुपया पाकर वे लड़के निकम्मे और

लंपट हो जाते हैं। और वे सारी कमाई पाप के भयानक मार्ग में खर्च होती है। हमारे सामने कितने उदाहरण हैं। पिता ने अच्छे या बुरे साधनों द्वारा धन इकत्र किया और वह मर गया। लड़कों ने उसे लुटा दिया और वैसे के वैसे खाली हाथ रह गए।

सामाजिक रीति यह होनी चाहिए कि कोई मनुष्य अपनी सन्तति के लिए उस से अधिक कुछ न छोड़े जो उस की शिक्षा या जीवन के सु-आरम्भ के लिए पर्याप्त हो। प्रत्येक स्त्री का ध्यान लड़के लड़की के विवाह के लिए रुपया बचाने में लगा रहता है। मैं इन बिरादरियों की गुलामी और इस के लिए धन इकट्ठा या खर्च करना व्यर्थ समझता हूँ। संस्कार केवल एक धार्मिक रीति होनी चाहिए। किन्तु इन पर जो पाखण्ड किया जाता है और बिरादरियों के सम्बन्धी स्त्री पुरुष इकट्ठे होकर आनन्द मनाते हैं, ये बातें हमारे जातीय जीवन को नष्ट करती हैं। मनुष्य के सामने आदर्श एक ही हो सकता है—जातीय जीवन का विचार या बिरादरियों की रीतियों को पूरा करना। जो लोग अपना सारा ध्यान, समय और रुपया इन रीतियों के लिए खर्च करते हैं वे जातीय काम के लिए बिलकुल नाकारे होते हैं। इस लिए जातीय जीवन के मार्ग में ये सब रीतियां बाधाएं हैं।

हम ने देखा है कि ये प्रथाएं हैं, जो हमारे अस्तित्व

को संसार से मिटा रही हैं। इसका इलाज यही है कि हम इनके विरुद्ध प्रयत्न करते रहें। ज्यों ज्यों हमारी यह शक्ति जाती रहेगी हम इन बीमारियों का शिकार होते जायंगे। हमारी शक्ति बढ़ेगी, हम इन बीमारियों पर विजय पायंगे। बीमारी का सब से बड़ा इलाज तो यह है कि रोगी कुछ विशेष बातों से परहेज़ करे और कुछ पर नियमपूर्वक आचरण करे। यदि रोगी इसके उलट आचरण करता है तो औषध से उसे कोई लाभ नहीं हो सकता और कोई डाक्टर या हकीम उसका इलाज करने पर राज़ी नहीं होता। मैं चाहता हूँ कि एक रोगी की तरह हम भी कुछ बातों से परहेज़ करना और कुछ पर आचरण करना सीखें। सब से पहली बात तो यह है कि हम बचपन से ही अपनी सन्तति को अपनी भाषा से प्रेम करना सिखाएं। हमारी भाषा हमारी जातीयता का सब से बड़ा चिह्न और एक बड़ा अङ्ग है। भाषा में हमारा पिछला इतिहास पाया जाता है। पुराने आर्य वैदिक बोलते थे। यह भाषा वही थी, जिसे वर्त्तमान योरोपीय जातियों के पूर्वपुरुष बोलते थे। आज इन भाषाओं में कुछ प्रयुक्त शब्दों से हमें एक बड़ी ऐतिहासिक बात मालूम हुई है कि वर्त्तमान योरोपीय जातियां भी आर्यों की शाखाएं हैं। संस्कृत प्राचीन आर्यत्व की भाषा है। प्राकृत भाषाएं यह प्रकट करती हैं कि उस समय देश में रहने-वाले विजातियों के बहुत मेल-मिलाप से अनेक शब्दों ने संस्कृत

में प्रवेश किया। हिन्दी की विजय हिन्दुओं की जातीयता की विजय है। हिन्दी में फ़ारसी भाषा के शब्दों का होना यह बताता है कि हम पर उन लोगों का राज्य चिरकाल तक रहा, जो फ़ारसी भाषा को अपनी भाषा मानते थे। इसी नियम के अनुसार ही हमारी भाषा में अंगरेज़ी राज्य की बदौलत आज अंगरेज़ी शब्द बढ़ रहे हैं।

बच्चा उत्पन्न होते समय, जो भाषा बोलना सीखता है, उसकी वही जातीयता बन जाती है। जापानी से जापान का, जर्मन से जर्मन का और अंगरेज़ी होने से मनुष्य अंगरेज़ बन जाता है। अपने देश में ही देखिए। आरम्भ में बच्चा मसजिद में प्रविष्ट होकर अरबी सीखता है, वह इस्लाम, अरब, अरबी और अराबिस्तान से प्रेम करने लग जाता है। धर्मशाला में जाकर बच्चा गुरुमुखी सीखता है; बड़ा होकर वह पक्का सिख बन जाता है। हिन्दुओं की निर्बलता का मुख्य कारण यह है कि उन की सन्तान आरम्भ से ही रोटी के लोभ में फंसी हुई उर्दू और अंगरेज़ी सीखने में बड़ा मान समझती है। क्या इस मार्ग पर चलने से हिन्दू बच सकते हैं? नहीं, यदि अपनी रक्षा चाहते हो, तो पहले दो वर्ष अपने लड़की लड़के को घर पर या किसी मन्दिर में अच्छी तरह हिन्दी पढ़ना लिखना सिखाओ, और जो पढ़ाना हो वह बाद में पढ़ाओ लिखाओ। बस, हिन्दू जाति की नींव पक्की और गहरी हो जायगी। क्या ही अच्छा हो यदि सब

हिन्दू माताएं हिन्दी जानती हों और स्वयम अपनी सन्तान को पढ़ा सकती हों। पञ्जाब की अवस्था इस विषय में अति भयानक है। हम ने लाहौर से एक हिन्दू साप्ताहिक समाचारपत्र—आकाशवाणी—केवल इसी उद्देश्य से निकाला कि विशेष कर हिन्दू माताएं और कन्याएं हिन्दी पढ़ने और अपनी भाषा के द्वारा थोड़ा बहुत सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने में अभ्यास कर सकें। पत्र में काम करनेवालों को अपना पेट बाँध कर इस धार्मिक काम को चलाना पड़ता है। क्या हिन्दू इसी प्रकार अपने कर्त्तव्य को पूर्ण करेंगे? मैं अपने पाठक से इतनी प्रार्थना अवश्य करूँगा कि वह किसी न किसी हिन्दू परिवार में 'आकाशवाणी' को जारी करा दे।

महाराज दशरथ का देहान्त हो गया। भरत अयोध्या में वापस आगए। वे बड़े शोक में पड़ गए। ऋषि भरत को सन्तोष देता हुआ कहता है कि तुम अपने पिता के लिए शोक क्यों करते हो, उस के अन्दर तो सब राजगुण पाए जाते थे, क्योंकि—

सोचिय विप्र जो वेदविहीना। तजि निज धर्म विषय लवलीना॥
सोचिय नृपहि जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रियप्राण समाना॥
सोचिय वैश्य कृपण धनवानू। जो न अतिथि शिव-भक्ति सुजानू॥
सोचिय शूद्र विप्र अपमानी। मुखर मान प्रिय ज्ञानगुमानी॥
सोचिय पुनि पतिवंचक नारी। कुटिल कलह प्रिय इच्छाचारी॥

शोचिय बटु निजव्रत परिहरई। जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई॥

शोचिय गृही जो मोहवश, करै धर्मपथ त्याग।

शोचिय यती प्रपंचरत, विमल विवेक विराग॥

वैखानस सोई शोचन योगू। तप विहाय जेहि भावै भोगू॥

शोचिय पिशुन अकारण क्रोधी। जननि जनक गुरु बंधु विरोधी॥

सब विधि शोचिय परअपकारी। निजतनु पोषक निर्दय भारी॥

शोचिय लोभ निरत रत कामी। सुरश्रुति निंदक परधन स्वामी॥

यही हिन्दु-समाज का आदर्श होना चाहिए। मातापिता के अन्दर यह इच्छा होनी चाहिए कि वे अपने किसी न किसी बच्चे को ब्राह्मण बनायें। यह विचार छोड़ दें और यह प्रश्न करना छोड़ दें कि वे पढ़कर करेंगे क्या। बालकपन से ही वे अपने बालक के अन्दर यह भाव भरें कि विद्याग्रहण करने के पश्चात् वह अपने आप को अपने देश और धर्म के लिए अर्पण करेगा। देश की उन्नति की कसौटी यह समझें कि लोग उस के लिए कितनी श्रद्धा रखते हैं, मान करते हैं और अपनी श्रद्धा रूपी दक्षिणा भेंट करते हैं। क्षत्रिय हमारे लिए कैसे हों? प्रश्न बड़ा कठिन है। मैं देखता हूँ कि हमारे हिन्दू राज्य, जिन में हमारे क्षत्रियत्व का अवशेष है, अति दीन और पतित अवस्था में हैं। उन में सच्चा जीवन डालना भी हमारा काम है। क्षत्रिय उत्पन्न करने के लिए स्वाधीन भूमि चाहिए। जहां पर तलवार या बंदूक का मुंह देखना मुश्किल है वहां से क्षत्रिय क्या निकलेंगे? वैश्य तब

उत्पन्न होंगे, जब हिन्दू स्वयं अपने हाथों से काम करना सीखेंगे। सरकारी नौकरी कर के या आजकल के व्यापार से रुपया कमाना वैश्य धर्म नहीं है। नौकरी करना तो शूद्र-वृत्ति से भी निकृष्ट है। वर्त्तमान व्यापार केवल विदेशों का व्यापार बढ़ाने के लिए दलाली का काम है। सम्भवतः वह मनुष्य धनवान् बन जाता हो किन्तु वह अपने देश को बरबाद करता है। वह तो वैसा ही करता है जैसे कोई हिन्दू कसाइयों के साथ गौओं का व्यापार कर के बहुत धन एकत्र कर ले। चाहे पठित है या अपठित हिन्दुओं को चाहिए कि कृषि का अध्ययन करके स्वयं ज़मीन काश्त करें। इस से उन्हें दूध घी मिलेगा और वे हृष्टपुष्ट होंगे। दूसरी बात जिसने हमारी जाति को गिरा दिया है, वह यह है कि हम ने मिहनत के कामों को निंद्य समझ लिया है। इस का नतीजा यह हुआ है कि जो लोग दिमाग़ रखते थे, उन्हों ने काम से घृणा की और काम करनेवालों को विद्या न दी। दिमाग़ और हाथ पृथक् पृथक् हो गए। हम गिर गए। अन्य देशों में तरखान और लोहार बौधिक उन्नति करके बड़े बड़े इंजिनीयर बन जाते हैं। उन्हों ने ही हमारे 'दिमाग़' वालों पर और मिहनत करनेवालों पर आकर शासन किया। दिमाग़ को हाथ से मिलाना चाहिए। जो बच्चे दिमाग़ी शिक्षा पा रहे हैं, उन्हें चाहिए कि साथ साथ कोई हाथ का काम भी सीखें। इतना कह देना अनुचित न होगा कि

पञ्जाब के बच्चों के लिए 'क़ौमी विद्यालय लाहौर' में इसी उद्देश्य को सामने रख कर शिक्षा दी जाती है।

शारीरिक बल और खेलों का शौक़ एक ऐसी बात है, जो जाति को जीवित और प्रसन्नचित्त रखती है। दशहरा हिन्दुओं का बड़ा त्योहार है। यह त्योहार भारत में सर्वत्र मनाया जाता है। इस वर्ष लाहौर के हिन्दुओं की यह बड़ी अच्छी तजवीज़ थी (जिस पर उन्हों ने आचरण भी किया) कि दशहरे पर खेलों का मुक़ाबला टोरनेमेंट, कुश्तियां आदि हों और जीतनेवाले नवयुवकों को बड़े प्रेम और आदर से पारितोषक दिए जायं। यह एक ऐसी बात है, जिस का अनुकरण सब गाँवों और नगरों को करना चाहिए। जहां हिन्दू सभाओं का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे नवयुवकों में व्यायाम का प्रचार करें, वहां उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे एक टोरनेमेंट से इतना प्रचार होता है, जो वर्ष भर के व्याख्यानों से नहीं हो सकता। ये टोरनेमेंट होते हैं, जो नवयुवकों में उस भाव को स्थिर रखते हैं, जिस भाव को स्थिर रखना युद्ध का विशेष उद्देश्य होता है। यहां पर शान्ति और युद्ध की फ़िलॉसॅफ़ी पर थोड़ा विचार करना अनुचित न होगा। सर्वसाधारण का विचार है कि युद्ध संसार के लिए शाप है। योरप के भिन्न भिन्न देशों में भी इस समय एक विचार-मण्डल है, जो युद्ध के विरुद्ध प्रचार करना अपना उद्देश्य-विशेष समझता है

(अंगरेज़ी में इसे एएटी-मिलिटेरिस्ट कहते हैं)। देखने से तो यह विचार स्वीकार करने योग्य प्रतीत होता है। इतना होने पर भी संसार से युद्ध जाता हुआ दिखाई नहीं देता। नीतिज्ञों का विचार इस के बिल्कुल उलट है। वे समझते है कि युद्ध संसार में एक प्रकार का ईश्वर प्रसाद होता है। यदि ये मुक़ाबले और टोरनेमेंट नवयुवकों में जीवन उत्पन्न कर सकते हैं तो कोई कारण नहीं दिखाई देता कि जातियों का वास्तविक टोरनेमेंट क्यों लाभदायक न हो? शांति और अमन, जो ऊपर से बड़े अच्छे दिखाई देते हैं, यदि चिर-काल तक रहें तो जाति के लिए विषसमान हैं। चिरकाल तक शांति में रहने से जातिएं शान्तिप्रिय और भीरु बन जाती हैं। उन के वीरता और निर्भयता के भाव नष्ट हो जाते हैं। नेपोलियन के युद्ध के पश्चात् इंगलैण्ड लगभग एक शताब्दी तक बिना युद्ध किए रहा। जब बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इंगलैण्ड को दक्षिणी अफ्रिका के बोअर के साथ युद्ध करना पड़ा तब संसार को इंगलैण्ड की युद्ध-शक्ति का ज्ञान हुआ। बोअरों की कुल जनसंख्या से इंगलैण्ड की सेना अधिक थी। तो भी बोअर तीन वर्ष पर्य्यन्त इंगलैण्ड का मुक़ाबला करते रहे। इसी बात से अनुमान किया गया है कि जर्मनी को यह विश्वास हो गया कि इंगलैण्ड का साम्राज्य अन्दर से खोखला ही हो गया है और यदि जर्मनी उसे ज़ोर से एक धक्का दे सकेगी तो उसे गिराने में वह सफल

हो जायगी। यदि वास्तव में ही इंगलैण्ड का ह्रास आरम्भ हो गया था तो गत योरपीय महासमर ने इंगलैण्ड के लिए एक बड़े भारी इलाज का काम किया। नियम यह है कि मरती हुई जाति को मृत्यु से बचाने के लिए युद्ध ही एक अमृतसमान औषध है और यह औषध ऐसी निर्णायक है कि इस से मामला या इधर हो जाता है या उधर। सुख से पली हुई जातिएं दूकानदारों की तरह खून का रंग देख कर घबरा जाती हैं। यही भीरुता का बड़ा चिह्न है। राजपूत अपनी जाति की विशेषता ही यही समझते थे कि हंसते खेलते मृत्यु के मुख में जाएं। यह बात प्रसिद्ध है कि अकबर ने दो राजपूतों से पूछा कि उन में विशेष गुण क्या है। दोनों घोड़ों पर सवार हो गए और अपने भालों की नोकें परस्पर एक दूसरे की छाती पर रख कर घोड़ों को एड़ी लगा दी। एक क्षण में दोनों लाशें नीचे आ गिरीं। यह मूर्खता न थी! इस बात ने अकबर को विश्वास दिला दिया कि जान पर खेलना ही राजपूतों का जौहर है।

मेरा विचार है कि जब कोई जाति बिल्कुल ही भीरुता के गड्ढे में गिर रही हो तब कभी कभी परस्पर युद्ध करना उसके लिए लाभदायक होता है, यद्यपि हर समय लड़ते रहना पागलपन है। वर्त्तमान मुसलमानों के आक्रमणों ने हिन्दुओं के लिए एक प्रकार से हित किया है, उन्हें शान्ति-प्रियता के स्वप्न से जगा दिया है। हमें इन फ़सादों की इस

दृष्टि से देखना चाहिए कि हर बुराई से कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है ।

सब से अन्तिम किन्तु सब से आवश्यक बात अपनी संख्या को स्थिर रखना है । प्रति दस वर्ष की मनुष्य-गणना यह बताती है कि जहां अन्य मनुष्य हमारे देश में बढ़ रहे हैं, हिन्दू दिन प्रति दिन पीछे पड़ रहे हैं । इस के कारण हम जानते हैं । ईसाइयों ने हमारे लड़के और लड़कियों को फंसाने के लिए स्कूलों और कालेजों आदि के जाल बिछा रक्खे हैं । मिशनरी अस्पताल और उनके औषध जाल और दाने हैं, लोभ में पड़कर बेचारे भूखे पक्षी जिन में फंसते हैं । हमारे मुसलमान पड़ोसी तो किसी प्रकार के साधन से परहेज़ न करेंगे । एक मुसलमान सज्जन कहते हैं कि हम ज़बरदस्ती करेंगे, अपने गुण्डों को काम में लाएंगे : वे हिन्दू लड़कियां छीनेंगे । अपनी लड़कियां और रुपए हम खुले तौर पर इकट्ठे करेंगे ताकि हिंदू नवयुवकों को मुसलमान बनासकें··· । मुसलमान सज्जन ऐसी बातों को प्रसन्नता की दृष्टि से देखते हैं । इन सब का उपाय शुद्धि है । मैं नहीं कहता कि हिन्दू कोई पाप करें ताकि उन की संख्या बढ़े, क्योंकि पाप सदा पापी को नष्ट करता है । केवल शुद्धि है, जो उन की जाति को बचा सकती है । हिन्दुओं के पास रुपया है । इस लिए उन्हें चाहिए कि अपना फ़ी एक पैसा अपनी जाति की रक्षा में खर्च कर दें ।

अछूत के सम्बन्ध में तो केवल एक ही बात कहनी पर्य्याप्त होगी कि मलाबार के नम्बोदरियों की तरह अब भी जो लोग केवल छूत के कारण अपनी स्त्रियों को घर से निकाल कर मुसलमान बना देते हैं, वे इस योग्य हैं कि आगे से उन्हें अछूत कहा जाय।

छूत क्या है? साधारण हिन्दुओं में वेदान्त का प्रचार है। हिन्दू मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के अंदर परमात्मा का अंश व्यापक है। जब हम किसी दूसरे से घृणा करते हैं तब वास्तव में हम परमात्मा से घृणा करने के उत्तरदायी बनते हैं। कहा जाता है कि शूद्र पाँव के बराबर है, किन्तु कौन हिन्दू नहीं जानता कि मूर्त्तिपूजक भगवान् के चरणों पर ही अपना शीर्ष निवाते हैं। शुद्धि तो एक साधारण और स्वाभाविक बात है। हम प्रति दिन मैले वस्त्रों को शुद्ध करते हैं। उन के मैले हो जाने पर कोई मनुष्य उन्हें अपने पास रखने के लिए तैयार नहीं होता। सर्वसाधारण यह प्रश्न करते हैं कि हिन्दू-संगठन की आवश्यकता ही क्या है? इतना उत्तर दिया जा चुका है कि इस संसार के अन्दर जातियों के पारस्परिक संग्राम में प्रत्येक जाति के जीवन के लिए पहली शर्त यह है कि वह बलवान् और संगठित हो। यदि किसी को इतना उत्तर संतोषजनक प्रतीत न हो तो उस के लिए यह कहना पर्याप्त है कि शुद्धि हिन्दुओं के जातीय जीवन के लिए आवश्यक है। यदि कोई हिन्दू-सभा न हो

तो शुद्ध करने का किसे अधिकार हो सकता था ? मलकानों की शुद्धि के मामले ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि आर्य-समाज आर्यसमाज के रूप में शुद्धि का कार्य करने के अयोग्य है। क्या जो लोग शुद्ध होना चाहते हैं वे आर्यसमाज में प्रवेश करना चाहते हैं ? और जब उन्हें मालूम हो जाय कि हमें शुद्ध करनेवाले आर्यसमाजी हैं तब वे न शुद्ध होने को अच्छा समझते हैं । जब यह बात कट्टर आर्यसमाजियों के पता लगी तब उन्होंने खुले तौर पर इस शुद्धि के विरुद्ध लिखना आरम्भ कर दिया। बात भी सत्य है। जिस शुद्धि में आर्यसमाजी और सनातनधर्मी दोनों सम्मिलित हों वह आर्यसमाज का विशेष कार्य कैसे हो सकता है ? शुद्धि सब से बड़ा काम है, जिसे हिन्दू-सभाएं हाथ में ले सकती हैं— और उस के लिए उन्हें धन और मनुष्य की सहायता मिल सकती है । हिन्दू शास्त्रों के अनुसार स्त्री की कोई जाति नहीं है। जो पति का धर्म होता है वही पत्नी का धर्म होता है। किसी हिन्दू को किसी अवस्था में भी दूसरी स्त्री को शुद्ध करने पर कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

इसी प्रकार दूसरा प्रश्न हिन्दी-प्रचार है । निःसंदेह देववाणी का प्रचार आर्यसमाज का विशेष कर्त्तव्य है। किन्तु कौन हिन्दू है, जो देववाणी के प्रचार में सम्मिलित न होगा ? इस लिए यह एक अन्य कार्य है, जिसे हिन्दू-सभाएं आसानी से कर सकती हैं। हिन्दू विधवाओं और अनाथों

की रक्षा हिंदूसभा का तीसरा काम होना चाहिए। गो-रक्षा के विषय को लेकर हिंदू-सभाएं हिंदुओं का ध्यान इस ओर कर सकती हैं। वास्तव में गो-रक्षा इस में है कि हिंदू बैल तथा गौ रखना और पालना अपने ज़िम्मे लें। वास्तव में गौ और बैल के पालनेवाले केवल मुसलमान हैं, रक्षा की पुकार करनेवाले हिन्दू हैं।

सिमेंट क्या है?

बालू के कणों से न कोई दीवार खड़ी हो सकती है, न कोई मकान बन सकता है। बालू के क़िले तो कमज़ोर वस्तु के लिए एक काल्पनिक नाम है। बालू के कणों में परस्पर मिलने की शक्ति नहीं। अचम्भे की बात है कि आजकल एक ऐसा सिमेंट बनाया गया है, जिस से ऐसी पटरियां बनाई जा सकती हैं, जो लोहे से अधिक मज़बूत हों। हिन्दुओं में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि हिन्दू सूत का कच्चा तागा है। उसे तोड़ना ऐसा ही आसान है जैसे सूत के तार को। किन्तु इन्हीं सूत के कच्चे तारों को बट कर मिलाने से ऐसा रस्सा बन जाता है, जिसे मनुष्य-शक्ति तोड़ नहीं सकती, कच्चे तारों से एक रस्सा बनाना उन का संगठन कहलाता है। यही संगठन है, जिसे हम हिन्दू जाति के बिखरे तारों में उत्पन्न करना चाहते हैं।

हिन्दू तो बालू के कणों की तरह बिखरे हुए हैं। वे परस्पर कभी नहीं मिलेंगे। उन की बिरादरियों की ग़ुलामी ऐसी है कि उन के रीति-रसम पर स्त्री, पुरुष, बच्चे सभी दौड़े जाते हैं। लड़की लड़के का विवाह होता है। उस पर सैंकड़ों रुपए किराये में खर्च कर दिए जाते हैं। तब धन व्यर्थ लुटाया जाता है। इन की स्त्रियां पेट से भूखी रहेंगी परन्तु इन रीतियों के लिए रुपया बचाती रहेंगी। कोई जातीय हित का काम होता है। उस पर हिन्दुओं को बुलाया जाता है। किन्तु वहां पर जाना उन्हें बोझ मालूम होता है। कोई धार्मिक लड़ी नहीं, जिसमें हिन्दू पिरोए जा सकें। हिन्दू केवल राष्ट्रीय और जातीय नाम है, जो इन्हें अपील नहीं करता। नाम को तो ये वेद और शास्त्र के माननेवाले हैं, किन्तु आचार-व्यवहार इन का सब उन से न्यारा है। वेद में एक उत्तम मन्त्र है—हम सब परस्पर मिल कर बैठें, हमारे विचार एक हों, हमारा मन एक हो......। यहां वेद-शास्त्र की कौन सुनता है! हिन्दुओं के लिए बिरादरी की रीतियां ही परम धर्म हैं। ईश्वर जाने कब और क्योंकर बिरादरियों की दासता जारी हुई। हम वास्तव धर्म-मार्ग से च्युत हो गए : हम बालू के कण हो गए। बालू क्या, धूल के कण हो गए, जो थोड़ी-सी हवा चलने पर उड़ने लग जाते हैं।

यह जाति संसार में सब से प्राचीन जाति है। इस के

धर्म-पुस्तक सब से प्राचीन हैं। वर्त्तमान योरपीय जातिएं सभी इस की शाखा में से हैं। अन्य सब पुरानी जातियों ने अपनी जातीयता और सभ्यता खो दी। इस नश्वर संसार में न पुराना रोम रहा न मिस्र, न ईरान रहा न बेबेलोनिया। एक हमारी जाति है, जो बराबर जीवित चली आती है। इस का जन्म सृष्टि के आरम्भ में हुआ। वास्तव में कोई बात है, जिस से हमारा अस्तित्व संसार से नहीं मिटा। हमारे देश पर कितने तूफ़ान आए, कितनी आँधियां चलीं, कितने गले कटे, कितनी बार रक्त-प्रवाह बहे, कितने युद्ध हुए, फिर भी हमारा निशान अभी तक बाक़ी चला आता है।

निःसन्देह हमारा एक मत नहीं। हमें उस की आवश्यकता ही क्या है? कितने ही धर्म हम में से निकले! वह कौन मत है जो हम से नहीं निकला? बौद्ध-मत से बढ़ कर दार्शनिक मत कौन होगा? प्रकृति-पूजा हिन्दुओं से बढ़ कर कहां होगी? वृक्षों और पक्षियों के पूजन से लेकर ब्रह्म के ध्यान तक सभी धर्म में आजाते हैं। जैनों का अनीश्वरवाद और वेदान्त का ईश्वरवाद भी इसी में है। एक धर्म न हो किन्तु हिन्दू जाति सब धर्मों की जननि है!

रामचन्द्र हम से हुए। कृष्ण इसी जाति से हुए। महाभारत के योधा इसी देश में हुए। महात्मा बुद्ध की मातृभूमि यही है। विक्रमादित्य और शंकराचार्य ने इसी धरती में जन्म लिया। राजपूत वीरों के बलिदान यहां हुए।

महाराष्ट्र-वीरों और पञ्जाब-गुरुओं की भूमि यही है। इन सब की आत्मा हमारी ओर देख रही है। हिन्दुओ, स्मरण रहे इन के नाम और मान की लाज तुम्हारे हाथ में है!

हमारा नाम आर्य हुआ या हिन्दु इस में क्या, नाम तो हमारा ही है। हिन्दू बुरा नाम हो, किन्तु जब हमारे पूर्वजों ने इसे स्वीकार कर लिया और इस के लिए अपने प्राण तक दिए, तब यही नाम हमारे लिए पवित्र और पूज्य बन जाता है। इसका अर्थ खराब था जब हम पतित थे। यही नाम अच्छा था, जब हम अपने पाँव पर खड़े थे। आर्य हमारा जातीय नाम तो था ही, राष्ट्रीय नाम दूसरों ने हमारा हिन्दू रख दिया तो इस में क्या दोष आ गया? अब तो हमारा जीना और मरना इसी नाम के साथ है।

वह कौन-सा सिमेंट है, जो हम बालु के कणों को लोहा बनादे? वह सिमेंट, इस नाम के साथ हमारा प्रेम है. इश्क़ है! वह प्रेम क्या, जिस में स्वार्थ हो? प्रेम करने में ही अपने आप को अर्पण करना पाया जाता है। जितना हम किसी से अधिक प्रेम करते हैं, उतना ही हम अपने अहंभाव को नष्ट कर अपने आप को उस के अर्पण करते हैं। यदि हम अपनी जाति के लिए अपने अहंभाव को मिटा दें तो उसी से सिमेंट उत्पन्न होगा, जो जाति को फ़ूलाद जैसा मज़बूत बना देगा। हिन्दुओ, अपनी जातियता को एक चमत्कार समझ कर उस पर इस तरह क़ुरबान होना

सीखो, जैसे पतंग दिये पर होता है। वह जल कर मर जाता है। किन्तु उस जलने में उसे आनन्द आता है। प्रेम के लिए मरने में जो आनन्द आता है, उसे पतंग ही अनुभव करता है। जिसने कभी प्रेम का रसास्वादन किया हो, धुएं की तरह शनैः शनैः सुलगते रहना उस के लिए नाकारापन है। क्योंकि इस से दूसरों को कष्ट होता है और अपने आप को दुःख। एक बार जल कर चमत्कार दिखाना भी जीवन को आनन्द देता है। मरना तो दूर रहा जाति के लिए जीना भी बड़ी शहादत है। जो जाति के लिए जीता है वह ज़िंदा शहीद है। हिन्दू नाम पर मोहित हो जाओ, उस के सच्चे प्रेमी बन जाओ। जाति का प्रेम-इश्क़ जैसा तुम्हारे हृदय में हो वैसा मुख पर हो। केवल तुम्हारे मुख पर ही न हो प्रत्युत आचार-व्यवहार से भी प्रकट होता हो। वास्तव में सत्यवादी वही है, जो मन, वचन और कर्म में एक है। वे ठग और धूर्त्त होते हैं, जिन के मन में कुछ होता है, बातों से और दिखाते हैं और कर्म में और गुल खिलाते हैं।

गरीब और निस्सहाय मनुष्य, स्त्री और बालक की सहायता करनी और उन्हें अन्याय और अत्याचार से बचाना ही सब से बड़ी आराधना है। अनेक मनुष्य हैं, जो विशेष वाक्यों को दुहराकर ईश्वर को प्रसन्न करना चाहते हैं। दिन में दो चार बार कुछ क्षण के लिए ईश्वर को प्रसन्न

करने की चेष्टा करते हैं। किंतु उन के जीवन का शेष भाग ऐसे कर्मों में व्यतीत होता है जिन से उन के रहस्य ईश्वर के सामने खुलते हैं। समस्त संसार और विशेषकर तुम्हारा देश ऐसे मनुष्यों से भरा है, जो देखने में 'ख़ुदा का बंदा' कहलाते हैं। किंतु उनका मन पड़ोसी का धन, स्त्री और बच्चे चुराने में लगा रहता है। तुम्हारा धर्म है कि जहां कहीं इस प्रकार का दुःख देखो, पुरुष समान डट जाओ। अत्याचार का मुक़ाबला करने पर कमर कस लो। डरो मत, सम्भव है तुम्हें दुःख सहने पड़ें। इन्हें सहने से ही तुम में जातीयता आयगी। इसी को सच्ची भक्ति और आराधना समझो! इसी से परमात्मा तुम पर प्रसन्न होंगे: एक महापुरुष का कहना है—ईश्वर तुम से यह नहीं पूछेगा कि तुम ने मेरे लिए क्या किया? या कब तक मेरी आराधना की? प्रत्युत उसका प्रश्न यह होगा—तुम ने मेरे ग़रीब, निःसहाय और दुखी बच्चों की क्या सहायता की, उन के लिए तुम ने अपना कितना समय गुज़ारा है? यही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, शेष सब धर्म इस से नीचे हैं। इस से जातीयता की वह ज्वाला उत्पन्न होगी, जो तुम्हारे देश को प्रकाशमय करेगा। संगठन के लिए हिन्दू-सभाएं बनाई जा रही हैं। हिन्दू-जाति की रक्षा के लिए सेवक-दल बनाए जा रहे हैं। इन में सम्मिलित होना तुम्हारा धर्म है। सम्मिलित होना ही संगठन है। हिन्दू घरों में बैठे हुए व्यर्थ बातों में अपना कितना

ही समय नष्ट कर देते हैं। किन्तु जब उन को सभा में बैठने के लिए कहा जाय तो वे तत्काल ही कह देंगे—वहां क्या है? हम जा कर क्या करेंगे? वे यह नहीं विचारते कि हम सुस्त बैठे क्या कर रहे हैं? यदि बैठे बैठे ही समय व्यतीत करना है तो अपने उन भाइयों के साथ बैठकर क्यों न समय गुज़ारा जाय, जो जाति का हित-चिन्तन करते हैं। सम्भवतः इस से उन्हें कुछ लाभ हो जाय।

व्याख्यानों के लिए हज़ारों हिन्दू इकट्ठे हो जाते हैं। वे कथाओं में ऐसे ही इकट्ठे होते हैं, जैसे तमाशे में। वहां रौनक होती है, उन का चित्त प्रसन्न होता है। मेलों में लाखों हिन्दू इकट्ठे होते हैं। त्योहारों पर जाने से कोई स्त्री, पुरुष या बालक पीछे नहीं रहता। सब मेले और उत्सव अच्छे हैं। जातीय जीवन के लिए यह भी सामग्री है। किन्तु सब कुछ इन्हीं में नहीं है। यदि जातीय जीवन न हो तो इन उत्सवों से कुछ लाभ नहीं होता? यह खाली ढोल का पोल होता है। यह दिखावा जातियों को उनके विनाश की ओर ले जाता है। जब जाति में जीवन नहीं होता तब यह अपना मन केवल तमाशों में लगाना चाहती है। प्राचीन काल में रोम में जब खेलें और तमाशे हुआ करते थे, तब लाखों मनुष्य उन में एकत्र होते थे; उस समय उनके जीवन का अन्त हो चुका था। दिखावा अच्छा होता है यदि उस के अन्तस्तल में कुछ वास्तविकता हो। यह न हो तो खाली दिखावा ठगी है।

वर्तमान जातियों में जो भाव सिमेंट का काम करता है, वह उनकी जातीयता है। परन्तु हमारे सामने प्रश्न का रूप और है--अस्तित्व न हो या विनष्ट हो चुका हो, तो किस साधन द्वारा उसे उत्पन्न किया जाय? कहने मात्र से या थोड़ा बहुत जोश पैदा कर देने से एक मृतप्रायः जाति में यह भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। अन्य भीतरी या बाहरी शक्तियें होती हैं, जो प्रतिक्षण इस भाव के जन्म के विरुद्ध प्रयत्न करती रहती हैं, और इसे जगने नहीं देतीं। यह अवस्था प्रायः उन जातियों की होती है, जो अपनी स्वतन्त्रता खो चुकी होती हैं। और जब कई शताब्दियों तक पराधीनता जारी रहे तब इस भाव की विरोधी शक्तियें बहुत बलवान् हो जाती हैं। लोगों को कहा जाता है कि एक दूसरे के साथ प्रेम और सहानुभूति करो परन्तु उसका कोई सुपरिणाम ही नहीं निकलता, प्रत्युत उसके उलट तब देश के भिन्न भिन्न दलों में ईर्ष्या और द्वेष का भाव ही काम करता दीख पड़ता है। केवल देखने से यह समझना कठिन हो किन्तु यह बड़ा भारी राजनैतिक नियम है कि ऐसी परिस्थिति में एक ही शक्ति है, जो इन विरोधी शक्तियों को दबा कर उन में जातीयता की नींव डाल सकती है-किसी एक की आज्ञा पालन करना। जब वह जाति एक व्यक्ति की आज्ञा पालन करना सीखती है, तब उसे पृथक् करनेवाले तथा अन्य सभी कुत्सित भाव मिट जाते हैं।

उन के नष्ट हो जाने पर जातीयता के लिए नई भूमि तैयार होती है। योरपीय देशों का इतिहास हमें यह बताता है कि जातीयता के आँदोलन में एक समय आता है, जब प्रत्येक देश इस आवश्यक कार्य का उत्तरदायित्व अपने सिर पर लेता है।

मुसलमानों के अन्दर संगठन के विचार को इस बात से बड़ी शक्ति प्राप्त होती है कि भारतवर्ष से बाहर कुछ ऐसे मुसलमान राज्य हैं, जिन्हें भारतीय मुसलमान भी अपना सच्चा नेता मानते हैं। मैं समझता हूँ कि जब प्रज्ञाचक्षु विरजानन्द ने स्वामी दयानन्द को वेद की रक्षा का आदेश किया तब उन की दूसरी आज्ञा यह थी कि देशी राज्यों का सुधार करो, जिस का तात्पर्य हिन्दुओं में उन के द्वारा जातीय भाव को उत्पन्न करना था।

हिन्दुओं में वास्तविक जातीय जीवन तब होगा जब वे ऐसी सभाओं में बैठेंगे और विचार करना सीखेंगे, जिन में न मनोहर गायन हो, न व्याख्यान। बाहरी सौंदर्य पर मर मिटना सच्चा प्रेम नहीं कहलाता। क्या आप ने उस झूठे इश्क़ की कहानी नहीं सुनी है। एक राजा एक सुंदरी पर मोहित हो गया। ललना ने कुछ दिन की मुहलत माँगी। इन दिनों में उस ने चार पाँच बार जुलाब लेकर अपनी देह को पतला और सूखा बना लिया। और अपने शरीर का सब मैला एक बर्तन में जमा रक्खा। तब राजा को बुला भेजा। स्त्री के मुख पर अब न पहला रूप था न कान्ति राजा